ॐ

ब्रह्म-विद्या

(सब विद्याओं की परम प्रतिष्ठा)

लेखक
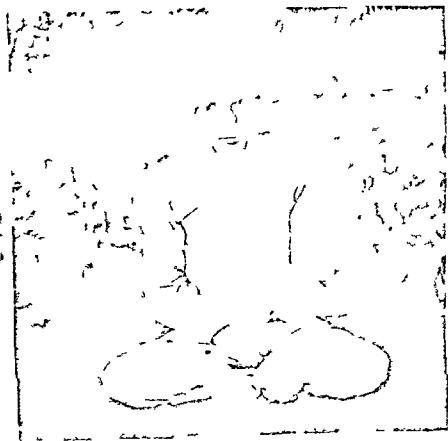
स्वामी कृष्णानंद सरस्वती, बी. ए., बी. टी.

विश्वेश्वरानंद मुद्रण व प्रकाशन मंडल, होश्यारपुर ।

संस्करण १;　　सं. २००७ (1950);　　छय रुपये (Rs. 6-0-0)

मुद्रक व प्रकाशक—
देवदत्त शास्त्री, वि. वा., वि. भा.,
अध्यक्ष, वि. वै. शो. सं. मुद्रण व प्रकाशन मंडल,
साधु-आश्रम, होशियारपुर ।

आर्थिक सहायता

महामान्य शाहपुराधीश, श्री उम्मेदसिंह जी विश्वेश्वरानंद संस्थान के सदस्य व सहायक हैं। आप के हृदय में भारतीय संस्कृति व साहित्य के प्रति भक्ति का भाव भरा है। संस्थान को आप से विशेष आर्थिक सहायता मिली है, जिस से यह विश्व-भद्र प्रकाशन-यज्ञ पूर्ण हुआ है। इस के द्वारा आप की पुण्य कीर्ति सदा बढ़ती रहे।

शाहपुराधीश, श्री उम्मेदसिंह जी

विश्वेश्वरानन्द मुद्रण व प्रकाशन मण्डल, होशियारपुर।

संपादकीय

१. माला-नायक का परिचय—

स्वर्गीय श्री स्वामी *सर्वदानंद* जी महाराज, जिनका पहला घर का नाम श्री चंदुलाल था, का जन्म पंजाब के होश्यारपुर नगर के दक्षिण में कोई पांच कोस पर बसे हुए, *बड़ी बसी* नाम के उपनगर में सं. १६१६ में हुआ था। आपके पूर्वजों में अनेक उच्च कोटि के वैद्य और योग्य विद्वान् हो चुके थे। आपके दादा श्री सवाईराम *काश्मीर* के थे। परन्तु वह बाल्य-अवस्था में ही *बड़ी बसी* के इस कुल में आ कर इसी के हो गए थे। आपकी आरम्भिक शिक्षा अपने यहां से बारह कोस पर *हरियाना* उपनगर के वर्नैकुलर मिडल स्कूल में हुई थी। आप में छोटी अवस्था से ही धार्मिक रुचि तथा साधु-सन्तों के सत्संग में प्रीति पाई जाती थी। इसी लिए जब गृहस्थ हो जाने के कुछ समय पीछे आपकी गृहिणी प्रसूता होकर बीत गई, तब फिर आप अधिक चिर तक घर पर नहीं रहे और विरक्त अवस्था में विचरने लग गए। सं. १६५३ के लगभग आपको भारतीय नव-युग के प्रथम प्रवर्तक, श्री स्वामी *दयानन्द* जी के प्रसिद्ध ग्रन्थ, *सत्यार्थ-प्रकाश* के पाठ का सुअवसर मिला। इससे आप में लोक-सेवा का तीव्र भाव जाग उठा। तभी से आपने स्थिर-मति होकर, सद्विचार और निष्काम कर्म के सुन्दर, समन्वित मार्ग को धारण किया और सं. १६६६ में निर्वाण-पद की प्राप्ति तक, अर्थात् ४६ वर्ष बराबर उसे निवाहा। आप पवित्रता व सरलता की मूर्ति, राग-द्वेष से विमुक्त, दरिद्र-नारायण के उपासक और खरी-खरी अनुभव की बातें सुनाने वाले सदा-हँस परम-हंस थे। आप सदा सभी के बनकर रहे और कभी किसी दल-बंदी में नहीं पड़े। आप जहां अच्छा कार्य होता देखते थे, वहीं अपनी प्रीति-निर्झरी प्रवाहित कर देते थे।

२. 'स्मारक' का इतिहास—

श्री स्वामी जी महाराज *विश्वेश्वरानन्द वैदिक संस्थान* के आदिम *ट्रस्टियों* तथा *कार्यकारी सदस्यों* में से थे और आपने आजीवन इसे अपने आशीर्वाद का पात्र बनाए रखा। आपका देहान्त हो जाने पर *संस्थान* ने यह निश्चय किया कि एक स्थिर *साहित्य-विभाग* के रूप में आपका *स्मारक* स्थापित किया जावे। उक्त विभाग सरल, स्थायी, सार्वजनिक साहित्य प्रकाशित करे और उसके द्वारा, आप के जीवन के ऊंचे व्यापक आदर्शों को स्मरण कराता हुआ, जनता-जनार्दन की सेवा में लगा रहे। इस पवित्र कार्य के लिए जनता ने साठ हजार रुपये से ऊपर प्रदान करते हुए अपनी श्रद्धा प्रकट की। परन्तु यह कार्य यहां तक पहुँचा ही था. कि हमारा प्रदेश पाकिस्तानी आग की लपेट में आ गया, सारी भारत मातृक जनता के साथ ही *संस्थान* भी

लाहोर को छोड़ने के लिए विवश हो गया। उसी गड़बड़ में इसे पांच लाख रुपये की भारी हानि भी सहनी पड़ी। तभी से यह अपने पाँव, नये सिरे से, जमाने में लगा हुआ है। पुन: प्रतिष्ठा नव विधान से भी कहीं कड़ी होती है। इसी लिए यह अभी तक अपनी स्थिति को पूरी तरह संभाल नहीं पाया। परन्तु समीपवर्ती हरिद्वार कुम्भ के महापर्व ने सिर पर आकर, मानो ऐसी चेतावनी दी है कि और कार्य तो भले ही कुछ देर से भी हो जावे, परन्तु यह *स्मारक* का चिरसङ्कल्पित कार्य इस शुभ अवसर पर अवश्य आरम्भ हो जाना चाहिए। इस *माला* का जैसे कैसे किया गया यह प्रारम्भ उसी चेतावनी का फल है। इस प्रारम्भ में, निश्चय ही, अनेक दोष रह रहे हैं, पर इसमें हमारी वर्तमान भीड़ा का ही विशेष अपराध है। अवश्य, समय पाकर, यह कार्य हमारी हार्दिक श्रद्धा के अनुरूप हो सकेगा, ऐसा हमारा विश्वास है।

३. माला का क्षेत्र—

विश्व भर का विश्व-विध विज्ञान, दर्शन, साहित्य, कला और अनुभव ही इस *माला* का विशालतम क्षेत्र होगा। पर, फिर भी, क्षमता की सीमा को दृष्टि में रखते हुए, हमारे प्रकाशनों की मुख्य भाषा हिन्दी रहेगी, और इनका मुख्य आधार भारतीय संस्कृति और साहित्य होगा। इनमें अपने पूर्वजों की दाय रूप सामग्री की व्याख्याओं के साथ ही साथ नई रचनाओं को भी पर्याप्त प्रवेश मिलेगा। इसी प्रकार, इनमें देश, विदेश की उत्तम रचनाओं के उत्तम अनुवादों आदि का भी विशेष स्थान रहेगा।

४. परामर्श समिति—

इस 'माला' के क्षेत्र की विशालता और विविधता को देखते हुए ही इसके सम्पादन कार्य में आवश्यक परामर्श की प्राप्ति द्वारा इस विश्व हितकारी कार्य को सफल बनाने के भाव से 'परामर्श समिति' की योजना की गई है। देश के भिन्न भिन्न भागों के प्रसिद्ध सिद्धहस्त साहित्य सेवियों ने इस 'समिति' की 'सदस्यता' स्वीकार की है—यह बात, अवश्य, इस कार्य के गौरव का प्रमाण, और, साथ ही इसके भावी विकास की अग्रिम सूचना समझनी चाहिए।

५ उपस्थित ग्रन्थ—

स्वर्गीय योगिराज स्वामी *सियाराम* जी ऍम् ए. आध्यात्मिक मार्ग के सिद्ध-यात्री हुए हैं। हमें उनके सत्सङ्ग का सौभाग्य प्राप्त हुआ है और इस बारे में हम उनके आजीवन ऋणी रहेंगे। उन की ही आध्यात्मिक सपदा के प्रमुख दायाद व प्रवर्धक, हमारे सुहृद्, श्री स्वामी कृष्णानन्द जी इस ग्रंथ के लेखक हैं। आप कोई तीस वर्ष पहले दयानन्द हाई स्कूल, *चकवाल* (जेहलम) के मुख्याध्यापक बने थे। परंतु, शीघ्र ही, आपने आध्यात्मिक लटक की तीव्रतावश उस पद को छोड़ दिया। तभी से आप

ज्ञान, ध्यान व साधन में ही निरंतर लगे हुए हैं। अतः यह अतीव उचित घटना घटी है कि इस संत-स्मारक 'माला' का प्रारम्भ आपके चिर-प्रतिष्ठित अभ्यास व परिपक्व अनुभव के फलस्वरूप इस ग्रंथ से होता है।

६. आभार-प्रकाशन—

श्री देवदत्त शास्त्री व श्री *मक्षदत्त* वेदतीर्थ ने संपादन-कार्य में, विशेषतः, सूचियों के निर्माण द्वारा हमारी बड़ी सहायता की है। सामान्य पदार्थ-सूची एक हिन्दी प्रकाशन के लिए नई, परन्तु पाठकों की दृष्टि से अत्यन्त उपयोग की वस्तु है। उक्त विद्वानों ने तथा श्री *रामानंद* शास्त्री, श्री *पीताम्बर* दत्त शास्त्री व श्री *शिवप्रसाद* शास्त्री ने प्रूफ शुद्ध करने में पर्याप्त परिश्रम किया है। श्री *रेवतराम शर्मा* और छापा व जिल्द-बंदी विभाग के अन्य कर्मिष्ठों ने पुस्तक को शुद्ध व सुन्दर रूप में समय पर तैयार कर देने में विशेष प्रयत्न किया है। इस सराहनीय सहयोग के लिए हम इन सब का धन्यवाद करते हैं।

साधु-आश्रम, होशियारपुर।
संवत्-प्रतिपदा, २००७

विश्वबंधु

ब्रह्म-विद्या

सर्वदानन्द विश्व ग्रन्थमाला—१

श्री स्वामी मिगाराम जी

विश्वेश्वरानन्द मुद्रण व प्रकाशन मण्डल १
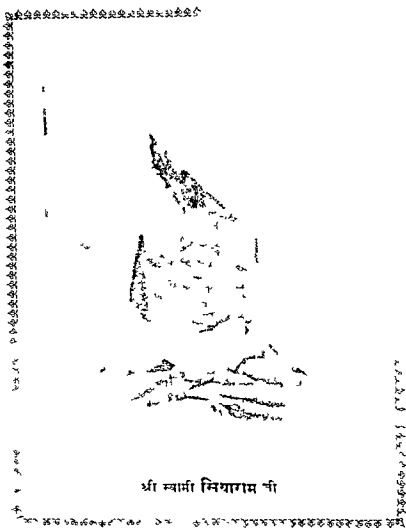
समर्पण

प्रातः स्मरणीय

पूज्यपाद परमहंस योगिराज श्री स्वामी सियाराम जी
महाराज के पवित्र चरणों में सादर समर्पण
करता हूँ, जिन के श्री चरणों में बैठ कर
मुझे आध्यात्मिक रहस्यों को
हृदयङ्गम करने का
सौभाग्य प्राप्त
हुआ है।

कृष्णानन्द

भूमिका

वर्तमान समय में तमोगुण का साम्राज्य है। परमात्मा, जीवात्मा, पुनर्जन्म, तथा कर्मादि, जिनका ज्ञान सामान्य लौकिक प्रत्यक्ष तथा अनुमान द्वारा नहीं हो सकता और जिनके ज्ञान का आधार वेदादि सत् शास्त्र तथा ऋषि, मुनि सन्तों के अनुभव हैं, में अश्रद्धा दिन प्रतिदिन बढ़ रही है। ऋषि मुनियों की पुण्यभूमि भारत में भी इस विषय में आस्तिकता शिथिल होती जाती है।

शास्त्रोक्त कर्म—यज्ञ, दान, तप, सर्वसाधारण धर्म—सत्य, अहिंसा आदि तथा निःश्रेयस के साधन—भक्ति आदि की सर्व सामान्य जन खुली अवहेलना करने लग गये हैं। यदि प्राचीन शास्त्रोक्त मनुष्य-जीवन के उद्देश्य तथा उसकी प्राप्ति के साधनों की चर्चा अथवा अनुष्ठान भी कुछ मात्रा में होता है तो बहुधा यह केवल दिखावा मात्र है। इन से भी लौकिक प्रत्यक्ष हित—धन, मान आदि—की प्राप्ति पर ही दृष्टि रहती है। शास्त्रोक्त फल में श्रद्धा से प्रेरित होकर यज्ञ, पूजा, पठन, पाठन में शुद्ध प्रवृत्ति बहुत कम देखने में आती है। इतना होने पर भी इस पुण्य भूमि में अभी तक बचा खुचा शुद्ध सच्चा धर्म भाव भी योग्यतानुसार पाया जाता है। कई संस्कारी, महाभाग्यशाली, सज्जन शुद्ध तथा दृढ़ भावना से परम लक्ष्य की सिद्धि द्वारा निज मनुष्य जन्म को सफल बनाने के लिए भरसक प्रयत्न करते हैं। परन्तु कलियुग के प्रभाव से प्राचीन ऋषि मुनियों की शिक्षा अथवा साधन प्रणाली का लोप हो गया है। अतः प्रचलित प्रणालियां अधूरी, अपूर्ण तथा बहुधा एकांगी हो गयी हैं। किसी एक अंग का भी शास्त्रानुमोदित, शुद्ध, निर्मल तथा पूर्ण स्वरूप शेष नहीं रह गया। अतः सच्चे जिज्ञासु भी प्रायः अधूरे साधनों में ही जीवन व्यतीत कर देते हैं और सफल मनोरथ नहीं होते। अथवा शास्त्रोक्त, तथ्य उद्देश्य को हृदयङ्गम न करके, यूं ही अपने आप को कृतकृत्य मान कर साधना को त्याग देते हैं और परम लक्ष्य से वञ्चित रह जाते हैं।

ऐसी विफलता का होना स्वाभाविक ही है, क्योंकि किसी भी लौकिक अथवा पारलौकिक लक्ष्य की सिद्धि सर्वांगपूर्ण साधन द्वारा ही हो सकती है, अन्यथा कदापि नहीं। ऐसी स्थिति में तो साध्य और साधन का नामकरण तथा उनके सम्बन्ध का निर्देश ही नहीं हो सकता। कोई व्यवहार तथा द्रव्य किसी साध्य का साधन, उपाय या कारण तभी कहला सकता है, जबकि उस साधन के पूर्ण अनुष्ठान से साध्य की सिद्धि अवश्य हो जाए और निर्दिष्ट साधन के बिना साध्य की सिद्धि कदापि न हो। साध्य और साधन में अविनाभाव सम्बन्ध रहता है। साधन के किसी एक अंग के अभाव अथवा अपूर्णता में विफलता अनिवार्य हो जाती है। यदि हलवा बनाना हो तो उसकी सिद्धि के लिए घृत, जल, आटा तथा शक्कर इन सब पदार्थों की आवश्यकता होती है। घृत मूल्यवान् वस्तु है, परन्तु घृत मनों के परिमाण में विद्यमान होने पर भी यदि किसी कारणवश जल का अभाव हो, तो हलवा तीन काल में भी नहीं बन सकता। केवल इन वस्तुओं का होना ही आवश्यक नहीं, प्रत्युत इन सब का उचित मात्रा में उपयोग भी आवश्यक है। यदि जल आदि कोई भी पदार्थ उचित मात्रा में न हो, तो भी हलवा नहीं बन सकता। बनाने की विधि आदि को भी पूर्णतया उपयोग में लाना होता है। कहीं भी न्यूनता हुई कि साध्य में पूर्णतया विफलता नहीं, तो अधूरापन तो निश्चित ही रह जाता है। औषध के बनाने और सेवन में तो

भूमिका

वर्तमान समय में तमोगुण का साम्राज्य है। परमात्मा, जीवात्मा, पुनर्जन्म, तथा कर्मादि, जिनका ज्ञान सामान्य लौकिक प्रत्यक्ष तथा अनुमान द्वारा नहीं हो सकता और जिनके ज्ञान का आधार वेदादि सत् शास्त्र तथा ऋषि, मुनि सन्तों के अनुभव हैं, में अश्रद्धा दिन प्रतिदिन बढ रही है। ऋषि मुनियों की पुण्यभूमि भारत में भी इस विषय में आस्तिकता शिथिल होती जाती है।

शास्त्रोक्त कर्म—यज्ञ, दान, तप, सर्वसाधारण धर्म—सत्य, अहिंसा आदि तथा निःश्रेयस के साधन—भक्ति आदि की सर्व सामान्य जन खुली अवहेलना करने लग गये हैं। यदि प्राचीन शास्त्रोक्त मनुष्य-जीवन के उद्देश्य तथा उसकी प्राप्ति के साधनों की चर्चा अथवा अनुष्ठान भी कुछ मात्रा में होता है तो बहुधा यह केवल दिखावा मात्र है। इन से भी लौकिक प्रत्यक्ष हित—धन, मान आदि—की प्राप्ति पर ही दृष्टि रहती है। शास्त्रोक्त फल में श्रद्धा से प्रेरित होकर यज्ञ, पूजा, पठन, पाठन में शुद्ध प्रवृत्ति बहुत कम देखने में आती है। इतना होने पर भी इस पुण्य भूमि में अभी तक बचा खुचा शुद्ध सच्चा धर्म भाव भी योग्यतानुसार पाया जाता है। कई सस्कारी, महाभाग्यशाली, सज्जन शुद्ध तथा दृढ भावना से परम लक्ष्य की सिद्धि द्वारा निज मनुष्य जन्म को सफल बनाने के लिए भरसक प्रयत्न करते हैं। परन्तु कलियुग के प्रभाव से प्राचीन ऋषि मुनियों की शिक्षा अथवा साधन प्रणाली का लोप हो गया है। अत प्रचलित प्रणालिया अधूरी, अपूर्ण तथा बहुधा एकांगी हो गयी हैं। किसी एक अग का भी शास्त्रानुमोदित, शुद्ध, निर्मल तथा पूर्ण स्वरूप शेष नहीं रह गया। अत सच्चे जिज्ञासु भी प्राय अधूरे साधनों में ही जीवन व्यतीत कर देते हैं और सफल मनोरथ नहीं होते। अथवा शास्त्रोक्त, लक्ष्य उद्देश्य को हृदयङ्गम न करके, यू ही अपने आप को कृतकृत्य मान कर साधना को त्याग देते हैं और परम लक्ष्य से वञ्चित रह जाते हैं।

ऐसी विफलता का होना स्वाभाविक ही है, क्योंकि किसी भी लौकिक अथवा पार लौकिक लक्ष्य की सिद्धि सर्वांगपूर्ण साधन द्वारा ही हो सकती है, अन्यथा कदापि नहीं। ऐसी स्थिति में तो साध्य और साधन का नामकरण तथा उनके सम्बन्ध का निर्देश ही नहीं हो सकता। कोई व्यवहार तथा द्रव्य किसी साध्य का साधन, उपाय या कारण तभी कहला सकता है, जबकि उस साधन के पूर्ण अनुष्ठान से साध्य की सिद्धि अवश्य हो जाए और निर्दिष्ट साधन के बिना साध्य की सिद्धि कदापि न हो। साध्य और साधन में अविनाभाव सम्बध रहता है। साधन के किसी एक अग के अभाव अथवा अपूर्णता में विफलता अनिवार्य हो जाती है। यदि हलवा बनाना हो तो उसकी सिद्धि के लिए घृत, जल, आटा तथा शक्कर इन सब पदार्थों की आवश्यकता होती है। घृत मूल्यवान् वस्तु है, परन्तु घृत मनों के परिमाण में विद्यमान होने पर भी यदि किसी कारणवश जल का अभाव हो, तो हलवा तीन काल में भी नहीं बन सकता। केवल इन वस्तुओं का होना ही आवश्यक नहीं, प्रत्युत इन सब का उचित मात्रा में उपयोग भी आवश्यक है। यदि जल आदि कोई भी पदार्थ उचित मात्रा में न हो, तो भी हलवा नहीं बन सकता। बनाने की विधि आदि को भी पूर्णतया उपयोग में लाना होता है। कहीं भी न्यूनता हुई कि साध्य में पूर्णतया विफलता नहीं, तो अधूरापन तो निश्चित ही रह जाता है। औषध के बनाने और सेवन में तो

साधन, विधि, अनुपान आदि की पूर्णता का ध्यान रखना और भी आवश्यक प्रत्युत अनिवार्य होता है। किसी प्रयोग में पड़ने वाली भिन्न भिन्न ओषधियां एक दूसरे के दोष को दूर करती अथवा गुण को पूरा करने वाली होती हैं, इसलिए यदि उस प्रयोग में किसी एक ओषधि को न डाला जावे तो अमृत विष में परिवर्तित हो सकता है और रोगी मृत्यु का ग्रास बन सकता है। धातुओं के प्रयोग में तो यह भेद अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है। आजकल आयुर्वेदिक ओषधियों के प्रभाव के न्यून होने में यही मुख्य कारण है कि ओषधियां शुद्ध तथा पुष्ट नहीं होतीं और न ही उन्हें विधि के अनुसार तैयार किया जाता है।

सच्चे जिज्ञासुओं की अध्यात्मसाधना के निष्फल होने का मुख्य कारण भी यही है कि प्राचीन परम्परा लोप हो चुकी है। आध्यात्मिक लक्ष्य की सिद्धि के लिए भी अनेक साधनों की आवश्यकता होती है। साधक की स्थिति के भेद से भी साधन में भेद हो जाता है। किसी एक साधन के शुद्ध स्वरूप तथा फल के ज्ञान तथा तदनुसार अनुष्ठान करने की आवश्यकता होती है। भिन्न २ साधनों के परस्पर प्रभाव तथा उनकी उचित मर्यादा को भी ध्यान में रखना होता है, अन्यथा साधक, साधनों की अनभिज्ञता के कारण, उन्नति के स्थान में अवनति के कूप में गिर जाता है। यही कारण है कि कई साधनों का शास्त्र से अत्यन्त विपरीत फल देखने में आता है।

हठयोग का मुख्य लक्ष्य भी अन्य योगों के समान ही निःश्रेयस—मोक्ष—परमपद—की प्राप्ति है, परन्तु प्राण तथा षट्चक्र भेदन की इसमें विशेषता है, क्योंकि इनका असमय दोष पर शासन होता है। अतः प्राण के नियमन और षट्चक्र के भेदन से असाध्य रोगों से भी मनुष्य मुक्त हो जाता है। आजकल हठयोग के मुख्य लक्ष्य को नहीं समझा जाता और आसन, प्राणायाम आदि केवल शारीरिक व्यायाम के रूप में किए कराए जाते हैं। इसके शारीरिक लाभ के कारण यह भ्रान्ति भी आजकल फैली हुई है कि हठयोग का एक मात्र उपयोग शारीरिक स्वास्थ्य के सम्पादन में ही है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हठयोग वीर्य-संरक्षण, वीर्य दोषों (स्वप्नदोष आदि) की निवृत्ति तथा वीर्य को ओज में परिणत करने का अचूक साधन है। प्राचीन ऋषि मुनियों के पास इन्द्रिय विजय रूपी प्रत्याहार को सिद्ध करने तथा ऊर्ध्वरेतस् बनने के लिए यह एक अमोघ साधन था। परन्तु एक विश्वसनीय महात्मा अपने परिचय के आधार पर एक ग्रन्थ में लिखते हैं कि जितने हठ योगी उनसे मिले हैं, वे अन्य कई रोगों के साथ साथ वीर्य-दोष रूपी रोग से भी पीड़ित थे। यह स्थिति कितनी भयानक तथा शोचनीय है। जिस साधन से मनुष्य वीर्य-दोष से मुक्त ही नहीं, प्रत्युत वीर्य के संरक्षण तथा इसकी ऊर्ध्वगति द्वारा वीर्य को ओज में परिवर्तित कर सकता है, और मन तथा बुद्धि को दिव्य बनाकर दिव्य पद को प्राप्त कर सकता है, वही साधन वीर्य दोषों की उत्पत्ति का द्वार बन जाए। प्राचीन परम्पराओं के लोप हो जाने का ही यह सब कटु फल है कि ऋषि मुनियों से सेवित अमृत साधनाएं मृत्यु का रूप धारण कर रही हैं। इन्हीं कारणों से कई लोग हठयोग साधना को इस युग के लिए उपयुक्त नहीं समझते, किन्तु एक दृष्टि से तथ्य यह है कि आज के रजस् तथा तमोगुण प्रधान युग में शास्त्र प्रतिपादित हठयोग ही सर्वोत्तम साधन है, परन्तु परम्परागत शिक्षा के अभाव के कारण हमें इसे अपना नहीं सकते।

कई लोग इस युग के लिए भक्ति आदि अन्य साधनों का विधान करते हैं। परन्तु

परम्परा के लोप हो जाने से तथा वर्तमान नास्तिकता के कारण प्रत्येक साधन की उपयुक्त मर्यादा, शास्त्र तथा ऋषि-मुनियों द्वारा अनुमोदित विधियों का ठीक ठीक ज्ञान नहीं होता है। अत साधक इनका उल्लघन कर जाते हैं और उन्नति के स्थान में अवनति के गढ़ में गिर पड़ते हैं। भक्ति जैसा सरल साधन भी इसके स्वरूप भेद, अधिकार तथा अन्य सहकारी साधनों की अवहेलना आदि के कारण प्राय बहुत कम सफल हो पाता है। कई सज्जन ईश्वरकृपा तथा प्रारब्ध का दुरुपयोग करके भक्ति आदि साधन रूपी पुरुषार्थ में प्रमाद करते हैं और कहते हैं कि ईश्वर की कृपा होगी, तभी यह साधन हो सकेगा। कई साधक भक्ति के अत्यन्त उपयोगी सहकारी वैराग्य आदि साधनों से उपेक्षा करते हुए नाम जप करते रहते हैं। कई सामान्य व्यवहार में भी सत्य आदि की आवश्यकता को अनुभव नहीं करते। कई साधक वैराग्य को इतना महत्त्व दे देते हैं कि ईश्वर-भक्ति का साधन रूप से उपयोग भी उन्हें ठीक नहीं जचता, यद्यपि सर्वसाधारण जिज्ञासु के लिए ईश्वर भक्ति से प्राप्त होने वाली ईश्वर कृपा तथा प्रसाद के बिना सासारिक वासनाओं का विजय कर सकना असभवप्राय ही है।

ससार के शोक, मोह की निवृत्ति तथा परमपद की प्राप्ति के लिए निष्काम कर्म, विवेक, वैराग्य, शम, दम, तितिक्षा, उपरति, शास्त्र तथा गुरु में अनन्य श्रद्धा, समाधान, मुमुक्षा, शास्त्र-श्रवण, मनन, निदिध्यासन, उपासना आदि अनेक साधनों का अपने अधिकार के अनुसार उचित मात्रा में अनुष्ठान करना अत्यन्त आवश्यक है। किसी एक ही साधन द्वारा तो क्या किसी एक साधन की उपेक्षा कर देने के कारण भी अनन्तकाल तक साधारणतया सिद्धि नहीं हो सकती। परम्परा के लुप्त हो जाने के कारण किसी एक साधन को अपनाया तो जाता है, परन्तु अन्य सबकी अवहेलना तथा उपेक्षा की जाती है। इतना ही नहीं, उनका खण्डन भी किया जाता है। कई महानुभाव शास्त्र तथा गुरु में विश्वास तथा ईश्वर उपासना को ही ससार के पतन, जनसमुदाय के बंधन, शोक, मोह और परस्पर सघर्ष का कारण समझते हैं। और कई गुरु धारण कर लेने मात्र से ही अपने आपको कृत-कृत्य मान लेते हैं। गुरु और शास्त्र के आदेश को समझने तथा अनुष्ठान करने के लिए अपनी बुद्धि को यत्किञ्चित् कष्ट देना भी ठीक नहीं समझते। गुरु, भक्ति तथा समर्पण के यथार्थ स्वरूप को न समझकर स्वय नितान्त पुरुषार्थ से हीन हो जाते हैं। कहीं पर तो श्रद्धा का सर्वथा अभाव है और कहीं प्रमाद तथा विचार शून्यता का नाम ही श्रद्धा रखा जाता है। कहीं श्रद्धा को अर्धांगरोग हो गया है—अर्थात् गुरु में श्रद्धा की जाती है और शास्त्र से उपेक्षा, अथवा शास्त्र में श्रद्धा कर गुरु से नितान्त उपेक्षा की जाती है। कहीं निष्काम कर्म, भक्ति तथा योग को ही बंधन का कारण समझा जाता है और अधिकार आदि का कुछ ध्यान किए बिना, जो मिला, उसके कान में 'सोऽह' अथवा 'अह ब्रह्मास्मि' का मन्त्र फूक दिया जाता है। इसी मन्त्र के घोर तथा शुष्क जप आदि से इस दुस्तर माया से पार हो जाने की आशा की जाती है। और कहीं निष्काम कर्म के अतिरिक्त अन्य सब साधनों को अज्ञानमूलक समझा जाता है। कहने का सार यही है कि उपर्युक्त भिन्न भिन्न सर्व साधनों का अधिकारोचित, उचित मात्रा में उपयोग नहीं किया जाता, अपि तु किसी एक को अपना कर शेष सब की अवहेलना की जाती है।

यह सब इसलिए हो रहा है कि परम्परा लुप्त हो चुकी है। इन सब साधनों का उचित उपयोग तथा उपदेश मिलना प्रायः असभव ही है। इन भिन्न २ साधनों के शुद्ध स्वरूप,

भेद, कारण, फल, अथवा प्रत्येक की न्यूनता तथा पूर्णता, गुण, दोष अथवा इनके अधिकारी के यथार्थ ज्ञान का अभाव है, इसलिए ये सब साधना के उपयोगी अंग एक-दूसरे से पृथक् पड़े हुए हैं। हठयोग, कर्मयोग, राजयोग, कुण्डलिनीयोग, ज्ञानयोग आदि भिन्न-भिन्न योगों के विषय में भ्रान्ति हो रही है। इनके स्वरूप आदि के यथार्थ ज्ञान का अभाव हुआ है, अतः इन में भी कोई क्रियात्मक समन्वय नहीं है। इन में से किसी एक का अवलम्बन करके अन्य सब की अवहेलना तथा खण्डन किया जाता है। परन्तु वास्तविकता यह है कि ये भिन्न-भिन्न योग एक दूसरे से नितान्त पृथक् नहीं हैं। इन सब का ध्येय एक है। इनके साधन आदि का भी गौण तथा मुख्य रूप से भेद है, नितान्त भेद नहीं। इसलिए इन सब योगों का अधिकारानुसार उचित मात्रा में उपयोग नहीं किया जाता। एक ही योग का संकुचित, अपूर्ण, मलिन, एकांगी रूप से आयुभर सेवन होता है, जिससे दुराग्रह, अशान्ति, राग-द्वेष, एक दूसरे से घृणा—आक्षेप—की वृद्धि होती है। साधक अपने लक्ष्य की ओर कुछ उन्नति नहीं कर पाता। सच्चे जिज्ञासु भी भिन्न-भिन्न साधनों तथा योगों के रहस्य को नहीं समझते, अतः आयुभर यत्न करने पर भी सफलमनोरथ नहीं होते। वे अपना हित कुछ सिद्ध नहीं कर पाते और संसार में नास्तिकता की वृद्धि का कारण बनते हैं।

आध्यात्मिक क्षेत्र की इस शोचनीय दशा से प्रेरित होकर ही इस ग्रंथ का निर्माण किया गया है। इन सब साधनों में से प्रत्येक का विस्तार से निरूपण नहीं किया गया। उस उस साधन की जानकारी के लिए तद्विषयक स्वतंत्र ग्रंथों का अवलोकन ज़रूरी होगा। यहां पर संक्षेप से इन भिन्न-भिन्न साधना तथा योगों अर्थात् अहिंसा, सत्य, शौच, अपरिग्रह, दानादि सामान्य धर्म, निष्काम कर्म, विवेक, वैराग्य, शम, दम, तितिक्षा, उपरति, शास्त्र तथा गुरु में श्रद्धा, समाधान, मुमुक्षा, श्रवण, मनन, निदिध्यासन, हठयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, राजयोग आदि भिन्न योगों के शुद्ध स्वरूप, भेद, फल, गुण, दोष, आपस में कारण-कार्य-भाव, इनकी उचित मर्यादा आदि का संक्षेप से निरूपण किया गया है। इन के मनन से साधक अपनी साधना की न्यूनता को जांच कर उसे पूर्ण करता हुआ परम लक्ष्य को प्राप्त करने के योग्य हो सकता है। विशेष रूप से इस बात को जताने का यत्न किया गया है कि निष्कामकर्म, वैराग्य, निदिध्यासन, योग, श्रवण, मनन आदि किसी एक साधन की अवहेलना—उपेक्षा—करने से क्या त्रुटि उत्पन्न हो जाती है, और यदि एक ही साधन निष्काम कर्म आदि पर साधना को सीमित कर दिया जाए और अन्य वैराग्य आदि साधनों की अवहेलना की जाए तो साधना में क्या अपूर्णता रह जाती है। साधनों के इस रहस्य को ग्रहण करके साधक अपनी भूल को सुधार सकता है और सब साधनों का उचित उपयोग कर सकता है।

वेद, उपनिषद् आदि शास्त्रों में अनन्य श्रद्धा ही आध्यात्मिक साध्य की सिद्धि का मूल है। इस कलिकाल में अध्यात्म के मूल पर कुल्हाड़ा चल जाना स्वाभाविक ही है। इस एक दोष के आ जाने से सम्पूर्ण साधनों पर कुल्हाड़ा स्वतः ही चल जाता है और सम्पूर्ण दोषसमूह की वृद्धि अप्रतिहत तथा स्वच्छन्द रूप से हो जाती है। आजकल नास्तिकता की वृद्धि का मूल कारण ही यही है कि शास्त्र में उचित शुद्ध श्रद्धा का नितान्त अभाव सा हो रहा है। जैसे पहिले आरम्भ में ही कहा गया है कि ईश्वर, जीव, परलोक, कर्म, धर्म के ज्ञानादि का मूल तो शास्त्र ही है। एक शास्त्र को त्याग देने से ईश्वर, जीव, परलोक, कर्म आदि सब स्वतः

ही छूट हो जाते हैं। इस नास्तिकता प्रधान युग में शास्त्र का उचित महत्त्व तथा गौरव नहीं रहा। मानवीय स्वतंत्र बुद्धि को अधिक महत्त्व दिया जाता है, यहां तक कि आध्यात्मिक क्षेत्र के कई नेता भी शास्त्र की अवहेलना करते हैं, अपनी अपनी संकुचित, अनेक दोषों से दूषित बुद्धि के आधार पर शास्त्र को तौलते हैं। यदि शास्त्र की कोई बात उन्हें नहीं जंचती, तो दीर्घकाल तक धैर्यपूर्वक मनन किये बिना तथा अनुष्ठान प्रयोग करके उसके परिणाम को, परीक्षित किये बिना ही, झूठा कह देते हैं, अथवा मनमाने अर्थ करने लग जाते हैं। शास्त्र में अश्रद्धा तथा शास्त्र दुरुपयोग आजकल के आध्यात्मिक पतन का मुख्य कारण है। इसलिए इस मौलिक त्रुटि को सुधारने के लिए प्रथम खण्ड के प्रथम अध्याय में मानव जीवन के उद्देश्य का निरूपण करके द्वितीय अध्याय में शास्त्र के महत्त्व, स्वरूप तथा कार्य का निरूपण किया गया है और आध्यात्मिक विषय में प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण के उचित उपयोग तथा स्थान का वर्णन भी इसी अध्याय में किया गया है। यह विषय सामान्यतया कठिन है। आजकल की शास्त्र में अश्रद्धा के कारणों को समक्ष रख कर इस विषय का निरूपण किया गया है, जिससे इस विवेचन का स्वरूप प्राचीन प्रथा के समान क्लिष्ट न होने पर भी वर्तमान कालीन आक्षेपों के प्रत्युत्तर रूप में होने के कारण पर्याप्त कठिन हो गया है। यह विषय आजकल की आध्यात्मिक समस्या की दृष्टि में अत्यन्त उपयोगी है, क्योंकि साधारण श्रद्धा होने पर भी यह हमारी श्रद्धा निर्बल अथवा मनमानी होती है और ऋषि मुनियों के विचारानुसार परिमार्जित तथा पुष्ट नहीं होती। इसलिए इस अध्याय के कठिन होने पर भी इसका धैर्य से मनन करना उपयोगी होगा। इसके पुनः पुनः मनन करने से इसका रहस्य हृदयङ्गम हो सकता है। अथवा यदि अधिक कठिन प्रतीत हो, तो सर्व साधारण पहिले शेष ग्रंथ का मनन करके उसके पश्चात् इस अध्याय का मनन करें।

जैसे प्रथम वर्णन हो चुका है कि प्रत्येक साधन के स्वरूप, फल भेद, कार्य-कारण का भिन्न भिन्न अध्यायों में वर्णन किया गया है। यह वर्णन विवेचनात्मक दृष्टि से किया गया है और भिन्न भिन्न साधनों तथा उनके भेदों की तुलना भी उसमें करना आवश्यक हो गया है, अतः प्रत्येक अध्याय के विषय में कुछ क्लिष्टता का होना स्वाभाविक है। आध्यात्मिक लक्ष्य की सिद्धि आजकल के रजस् तथा तमोगुण प्रधानयुग में गाजर मूली के भाव नहीं हो सकती, और न कभी ऐसा हुआ ही है। अतः धैर्यपूर्वक प्रत्येक भाग, अध्याय और पंक्ति को मनन करके रहस्य को ग्रहण करने का यत्न करना चाहिए। यह जिज्ञासु के काम की वस्तु है, दिल बहलाने का खेल नहीं है, हां! सच्चे जिज्ञासु के लिए तो यह उपयुक्त दिल बहलावा ही है। अतः मैं आशा करता हूं कि सब सच्चे जिज्ञासु किसी संकुचित दृष्टि-जन्य संकोच तथा भय के बिना इस ग्रन्थ का उपयोग करते हुए उपयुक्त लाभ उठा सकेंगे।

अन्त में भगवान् से, जो सब साधन तथा सिद्धियों के मूल हैं, यह प्रार्थना है कि वे हम सब को सुबुद्धि दें, जिस से हम अध्यात्म शास्त्र के तथ्य रहस्य को हृदयङ्गम कर सकें और सम्पूर्ण साधनों के शुद्ध, मर्यादित, उचित मात्रा के अनुष्ठान द्वारा मनुष्य जीवन के परम ध्येय की प्राप्ति में कृतकार्य हों। ओम् शम्।

प्रेमाश्रम, बनीखेत
(हिमाचल प्रदेश)
२०-९-४९

कृष्णानन्द

विषय-सूची

दूसरा अध्याय —साधन चतुष्टय (विवेक वैराग्य)

तीसरा अध्याय —शम-दम

सातवां अध्याय :—समाधान

आठवां अध्याय :—मुमुक्षा

तृतीय खण्ड—पहला अध्याय :— कर्म का रहस्य

दूसरा अध्याय—वैराग्य

तीसरा अध्याय—योग-भक्ति-निदिध्यासन

विषय	पृष्ठ

चौथा अध्याय —श्रवण

पांचवां अध्याय —मनन (तर्क)

— • —

प्रमाणलेखक-सूची

प्रमाणग्रन्थ-सूची

प्रमाण-प्रतीक-सूची

कुण्डली

१. परास्य शक्तिर्विविधैवश्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च । श्वे० उप० ६,८,

२. कन्दोर्ध्वे कुण्डलीशक्तिर्मुक्तिरूपा हि योगिनाम् ।
बन्धनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित् ॥ योगशिखोपनिषद् ६,५५.

३. शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका ।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥ कठ ६,१६.

अर्थ—(१) कल्याणस्वरूप परब्रह्म की स्वाभाविक ज्ञान, बल और क्रियास्वरूप अनेक प्रकार की शक्ति का वेद उपनिषद् आदि सच्छास्त्रों में निर्देश आता है।

(२) कन्द के ऊपर कुण्डली शक्ति, जो साधारणतया सोई रहती है, वह भिन्न-भिन्न योग-साधनों द्वारा प्रबुद्ध होने पर योग-साधनावलम्बियों को निश्चित ही मुक्ति-प्रदान करने वाली है। परन्तु जो मूढ जन ईश्वर तथा गुरु प्रसाद से लब्ध इस शक्ति के उद्बोधन की विधि को नहीं जानते, उन अभागों के लिये यह कुण्डली प्रसुप्त रहने के कारण बन्ध का हेतु है। जो नर इस शक्ति के उद्बोधन की विधि जानता है, वही यथार्थ में योग-रहस्य का ज्ञाता है।

(३) हृदय से १०१ नाड़ियां निकलती हैं। उन में से एक (सुषुम्णा) मूर्धा (शिर) की ओर जाती है। उसके द्वारा (ब्रह्मरन्ध्र से) जो प्राण त्याग देता है, वह अमृत-पद को प्राप्त होता है। परन्तु जो किसी अन्य मार्ग से उत्क्रमण करता है, वह इस जन्म-मरणरूप संसार में भटकता रहता है।

ब्रह्मविद्या पृष्ठ २१७

प्रथम खण्ड के प्रत्येक अध्याय में आने वाले आधार वाक्य

पहला अध्याय—आधार वाक्य

ब्रह्मविदाप्नोति परम्। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।

(अर्थ)—सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म के साक्षात्कार द्वारा मनुष्य परमानन्दरूप मुख्य श्रेय को प्राप्त करता है।

दूसरा अध्याय—आधार वाक्य

नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्।

(अर्थ)—वेद उपनिषद् के श्रवण बिना कोरे तर्क से ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता।

तीसरा अध्याय—आधार वाक्य

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।

(अर्थ)—परमानन्दरूप ब्रह्म के प्रत्यक्ष ज्ञान के लिये (नाशवान् कर्मफल से विरक्त) जिज्ञासु हाथों में समिधा लेकर (अनन्य श्रद्धा से) श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण ग्रहण करे।

प्रथम खण्ड

आधार वाक्य

ओ३म् ब्रह्मविदाप्नोति परम् । सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म । तै० उ० २,१,१.

(अर्थ)—सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म के साक्षात्कार द्वारा
मनुष्य परमानन्द रूप मुख्य
ध्येय को प्राप्त होता है।

* ओ३म् *

ब्रह्म-विद्या

प्रथम खण्ड

पहिला अध्याय

मानव जीवन का उद्देश्य

१. प्राणी मात्र की सामान्य इच्छा

प्राणी मात्र की स्वाभाविक यह इच्छा है कि (१) आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक—इन त्रिविध दुःखों में से कोई भी उसका स्पर्श न करे। अथ त्रिविध-दुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः। (सांख्य १,१) तीन प्रकार के दुःखों की निःशेष निवृत्ति मनुष्य का परमलक्ष्य है। (२) उसे महान् से महान् परम अद्वयानन्द की प्राप्ति हो। (३) उसकी यह अनुपम सुख रूप स्थिति, उपलब्धि अथवा अनुभूति नित्य, निरन्तर एक रस बनी रहे।

२. सांसारिक पदार्थों द्वारा इस इच्छापूर्ति की दुराशा

प्रत्येक मनुष्य इसी इच्छा की पूर्ति के लिए रात दिन भटकता है। परन्तु उसे सफलता नहीं होती। क्योंकि (१) प्राकृतजन चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों के स्पर्श रूप रसादि नश्वर विषय भोगों को ही प्रायः परमसुख का एक मात्र साधन समझता है। परन्तु परम हितैषिणी भगवती श्रुति की घोषणा है कि "नास्त्यकृतः कृतेन" (मुण्डकोपनिषद् १,२,१२)। "न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्" (कठोपनिषद् २,१०)। उत्पत्तिशील तथा नाशवान् पदार्थों (भोगों) से स्थिर, नित्य, शाश्वत, परमानन्द की उपलब्धि नहीं हो सकती। (२) भोग तो नश्वर हैं। इस पर भी यदि किसी प्रकार नित्य नये भोगों की प्राप्ति संभव हो जांए, तो उनको भोगने के साधन चक्षु आदि इन्द्रियों की शक्तियां क्षीण हो जाती हैं तथा वे शनैः २ भोग भोग सकने में नितराम् असमर्थ हो जाती हैं। "श्वो भावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत् सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः" (कठोप० १,२६)। हे प्राणियों के प्राण हर्ता यमराज (मृत्यु देवता) जिन आपातरमणीय तथा चित्ताकर्षक विषय भोगों का आप मुझे प्रलोभन दे रहे हैं, ये अत्यन्त चञ्चल, क्षणभङ्गुर तथा अस्थिर हैं। एक दिन भी स्थिर रहने वाले नहीं हैं। और फिर ये भोग इन्द्रियों की शक्ति और तेज को क्षीण कर देते हैं। विषयी मनुष्य की इन्द्रियां शीघ्र ही बल रहित तथा निस्तेज हो जाती हैं। विषयासक्त मूढ़ पुरुष यह नहीं समझता कि विषय रूपी तस्कर, चतुर और ज्ञानाभिमानी मनुष्य के देखते २, उसे बहका कर, फुसला कर, उसके शरीर तथा

इन्द्रियों की शक्तिरूप धन को लूट ले जाते हैं और यह इनकी लूट खसूट में ही कृतकार्यता समझता है। (३) मृत्यु की कोई औषधि नहीं है। इन्द्रियों का आयतन यह शरीर भी कब तक सहयोग कर सकता है। जगत् में यह सिद्धान्त निर्विवाद है कि मृत्यु अनिवार्य है, जो धन, जन, सुख, सम्पत्ति आदि सर्वस्व को हर लेता है, इस लिए अति भयप्रद है।

ये तीन ऊपर लिखी गयी स्पष्ट तथा सर्व विदित त्रुटियां विषय सुख में विद्यमान रहती हैं। अतः इन वाह्य विषयों के आधार पर सुख की खोज में कभी भी कोई मनुष्य सफल न हुआ और न हो सकता है।

३. आशा पूर्ति की झलक

(१) इस एक रस, नित्य सुख की अभिलाषा की पूर्ति तो अनादि, अखण्ड, पूर्ण तत्व की प्राप्ति से ही हो सक्ती है। इस प्रकार के आनन्द के अस्तित्व में यह आशा, इच्छा, अभिलाषा ही एक रहस्यमय प्रमाण है। और यह इच्छा जब तीव्र जिज्ञासा का रूप धारण कर लेती है, तो वही इस विलक्षण अनुपम तथा परम रस की झलक में असाधारण तथा असंदिग्ध कारण बन जाती है।

(२) ऐसा भूमा (व्यापक), अखण्ड तत्त्व ही अद्वितीय आनन्द स्वरूप हो सकता है। वही आनन्द की चरम सीमा या पराकाष्ठा है। इस सर्वव्यापी भूमानन्द से अधिक अन्य कोई सुख नहीं हो सकता।

(३) इस परम आनन्द ज्योति रूप ज्वाला की सन्निधि में त्रिविध दुःख रूपी घास फूंस कैसे रह सकता है। वह इसे जला कर भस्मसात् कर देती है। और फिर पीछे वही अखण्ड, अद्वितीय आनन्द रूपी तत्त्व शेष रह जाता है।

(४) परन्तु ऐसा अखण्ड, अद्वितीय आनन्द किसी मरणधर्मा (विनाशी) के लिए परमानन्द का कारण कैसे हो सकता है। जब भोक्ता प्राणी का अन्त होगा, तो इस आनन्द से भी उसका वियोग अनिवार्य हो जाएगा। अतः भोक्ता का भी अजर, अमर तथा नित्य होना आवश्यक है। "अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।" (कठो० २,१८) यह आत्मा अजन्मा, नित्य, स्थिर तथा पुराण है, शरीर के नाश से इसका नाश नहीं होता।

(५) भोक्ता तथा भोग्य (सुख या आनन्द) को यदि भिन्न मान भी लें; तोभी भोग काल में भोक्ता सुखी, आनन्दमय, आनन्द रूप हुए बिना अपने भोग्य (सुख-आनन्द) का उपभोग नहीं कर सकता। जब भोक्ता सुखी होता है तो उस दशा में उसका तथा आनन्द (सुख) का तादात्म्य अर्थात् साम्यता हो जाती है, ऐक्य हो जाता है। दोनों परस्पर ऐसे मिल जाते हैं कि उस काल में भेद का निरीक्षण अशक्य हो जाता है।

४. उपसंहार

इस प्रकार परमानन्द की मानवीय आकांक्षा के विश्लेषण से हम इस सिद्धान्त पर पहुंचते हैं कि मनुष्य की यह आकांक्षा आगमापायी सांसारिक पदार्थों से पूर्ण नहीं

हो सकती। इसकी पूर्ति भूमानन्द से ही हो सकती है। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (छान्दोग्य ३,१४)। आनन्द के भूमा, नित्य होने पर भोक्ता का भी स्वरूप से अजर, अमर होना आवश्यक है। ऐसी स्थिति में भोक्ता परमरसपानार्थ रसरूप ही हो जायगा। अथवा यह समझिए कि ऐसा अखण्ड, अद्वितीय, अनन्त आनन्द ही भोक्ता तथा भोग्य को अपनी अनन्तता में लीन कर लेगा।

पहिला अध्याय समाप्त

दूसरा अध्याय
प्रमाण विमर्श

मनुष्य की प्रधान तथा एक मात्र यही इच्छा होती है कि उसे सर्वोत्कृष्ट आनन्द की प्राप्ति हो और वह सुख निरन्तर बना रहे। ऐसी इच्छा की पूर्ति की आशा नित्य, अद्वितीय, आनन्द रूप तत्त्व की प्राप्ति द्वारा ही हो सकती है। किसी भी विचारवान् को इस निर्णीततथ्य मे कोई आपत्ति नहीं हो सकती।

१. प्रमाण की आवश्यकता

परन्तु किसी आकांक्षा की पूर्ति की आशामात्र के आधार पर किसी पदार्थ की सिद्धि नहीं हो सकती। 'लक्षणप्रमाणाभ्यां हि वस्तुसिद्धि न तु प्रतिज्ञामात्रेण" इत्यादि न्याय के अनुसार किसी प्रतिज्ञात वस्तु की सिद्धि के लिये पहिले तो उसका लक्षण करना होगा, फिर प्रमाणों द्वारा उसकी पुष्टि करनी होगी। यदि किसी वस्तु की केवल प्रतिज्ञा से ही सिद्धि हो सकती हो, तब ऐसी कौन सी कपोलकल्पना है जिसे यथार्थ सिद्ध न किया जा सके। इसलिए माननीय परमानन्द प्राप्ति की आकांक्षा पूर्ति की सम्भावना और उसकी सिद्धि के लिए प्रमाणो की आवश्यकता है, जैसे सुवर्ण की परीक्षा के लिये कसौटी की आवश्यकता होती है।

२. प्रमाण संख्या

प्रमाण संख्या के विषय में सब दर्शनकारो का एक सर्वसम्मत सिद्धान्त नहीं है। विशेष उपयोगिता के विचार से हम यहां पर केवल प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द इन तीन प्रमाणो का ही उल्लेख करेंगे।

३. शब्द (श्रुति) प्रमाण निवेचन

उपर्युक्त भूमा आनन्द स्वरूप तत्व के विषय मे श्रुतियों के अनेक प्रमाण मिलते हैं। उन मे से कतिपय हम उद्धृत करते हैं .—

(१) "यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति, भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति" छान्दोग्य० (७,२३,१)। "जो भूमा महान है, वह निरतिशय तत्त्व ही सुख स्वरूप है। उसके अतिरिक्त जो सांसारिक पदार्थ हैं, वे अल्प हैं, इसलिए सुख स्वरूप नहीं हो सकते। वे सब पदार्थ परिच्छिन्न हैं इसलिए उनके सुख भी अल्प (सातिशय) हैं। न्यूनता, अल्पता तथा सातिशयता ही कालान्तर मे तृष्णा का हेतु बनती है। तृष्णा ही दुःख का बीज है। दुःख के बीज रूप जरादि से संसार में कभी सुख होता नहीं दीखता। यही कारण है कि तृष्णा के बीजभूत, देश, काल तथा वस्तु से परिच्छिन्न अल्प पदार्थों से वास्तविक सुख नहीं हो सकता। परन्तु देश काल तथा वस्तु परिच्छेद से रहित उस अनन्त, महान् तथा परम तत्त्व भूमा की प्राप्ति हो जाने पर फिर उसमें तृष्णादि दुःख का बीज ही सम्भव नहीं रहता। इसलिए भूमा ही सतत सुख का कारण निश्चित होता है। इस प्रकार के भूमा तत्व की ही जिज्ञासा करनी चाहिए।"

(२) "ओ३म् ब्रह्मविदाप्नोति परम्। तदेषाभ्युक्ता। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।

यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह!
ब्रह्मणा विपश्चितेति।" तैत्तिरीयोप० (२,१,१)। ब्रह्मज्ञानी सच्चिदानन्द स्वरूप निरतिशय परम ब्रह्म को ही प्राप्त होता है। जो मुमुक्षु बुद्धिरूप गुहा (जिसमें भोगापवर्गरूप पुरुषार्थ संरक्षित है) के अव्याकृत (माया) रूपी आकाश में स्थित इस प्रकार के ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है। वह परम भाग्यवान् औपाधिक जनि मृति संसृति चक्र से मुक्त हो जाता है। सर्वज्ञ ब्रह्मस्वरूप (शुद्ध चैतन्य) से एकीभाव को प्राप्त हुआ २ वह सर्व कामनाओं का उपभोग करता है; अर्थात् सर्व काम्य पदार्थ शब्द स्पर्शादि को चैतन्य रूप से व्याप्त करता है। ऐसी स्थिति में वह नित्य, शुद्ध, बुद्धस्वरूप परम चैतन्य से अतिरिक्त कुछ भी अनुभव नहीं करता। वह चिन्मात्र ही हो जाता है।"

(३) "यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तंगच्छन्ति नाम रूपे विहाय।
तथा विद्वान् नाम रूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥
स यो ह वै तत्परमं ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति।
तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति॥"
मुण्डकोप० (३,२,८,९)।

"जैसे बहती हुई गंगादि नदियां समुद्र को प्राप्त होकर, अपने नाम और आकार को त्याग कर उसमें लीन हो जाती हैं। और इस प्रकार तद्रूप हो जाने के पश्चात् यह विवेक नहीं हो सकता कि यह अमुक नदी का जल है अथवा अमुक का। क्योंकि नाम रूप ही भेद तथा पार्थक्य प्रतीति का कारण होता है। वैसे ही ब्रह्मवित् ज्ञानी अविद्याकृत औपाधिक नाम रूप से छूटा हुआ शुद्ध, चैतन्यमय, प्रकाश स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त होकर उसके साथ एक रूप हो जाता है। जो मुमुक्षु इस पर ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है। वह तद्रूप परब्रह्म ही हो जाता है। ऐसे ब्रह्मवेत्ता की शिष्य परम्परा में कोई भी ब्रह्मज्ञानहीन मूढ़ या तत्व ज्ञानरहित नहीं रहता। जन्म मरण रूपी संसार चक्र के अनन्त दुःखसागर से वह पार हो जाता है। धर्माधर्म का मलसमूह उसे स्पर्श नहीं कर सकता। हृदयस्थ अहंता ममता रूप माया की ग्रन्थियों से छूट कर, वह सदा के लिए अपने शुद्ध, बुद्ध, अजर, अमर, निर्विकार, निर्विशेष स्वरूप को प्राप्त हो जाता है।"

(४) इस विषय मे विशेष जिज्ञासा रखने वाले को निम्नाङ्कित श्रुति स्थल देखने चाहिएं। ऋग्वेद १,१६४,४६; ४,४०,५; ४,२३,१; ४,२७,१; ऐतरेयोपनिषद् २,५; ४,७; ३३,१८; बृहदारण्यक उपनिषद् २,५,१६; ३,८,११ इत्यादि।

४. वर्तमान काल में श्रुति में अविश्वास

आजकल की पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव से हमारे हृदय तथा मस्तिष्क इतने प्रभावित हो गये हैं कि हम परम प्रमाण, अनादि अनन्त अपौरुषेय तथा अबाध्य स्वतःप्रमाणभूत श्रुति का भी यत् किञ्चित् सम्मान तथा आदर करने को तैय्यार नहीं हैं। पाश्चात्य शिक्षा पद्धति तथा शिक्षा ने हम पर पर्याप्त तथा अकथनीय प्रभाव डाला है। हम पाश्चात्य शिक्षा दीक्षा में शिक्षित, उन पाश्चात्यों का अनुकरण करते हुए बुद्धि स्वातन्त्र्य

तथा उच्चशिक्षा के अभिमानी बनते हैं, और कहते हैं कि हम प्राक्तन रस्मोरिवाज, वेशभूषा तथा व्यवहार की लकीर के फकीर नहीं बनना चाहते। ईश्वरीय ज्ञान वेद तथा महर्षियों के परमपुनीत हितभरे उपदेशों को भी "बाबावाक्य प्रमाण" का नाम देकर झट उनका बोझा अपने सिर से उतार कर अपने आप को बुद्धिमान् समझने लगते हैं, और कहते हैं कि हम अन्धे की तरह नेत्र मून्द कर किसी के पीछे चलने को तैयार नहीं। परन्तु हम यह नहीं सोचते कि हमने अपनी इस भयप्रद मानसिक दासता (परतन्त्रता) का नाम ही स्वतन्त्रता रख लिया है। क्योंकि श्रुति को मानने से इनकार करते समय हम प्रायः यही युक्ति तथा तर्क उपस्थित करते हैं कि अर्वाचीन भौतिक विज्ञानवादी पण्डित ऐसी गप्पों को नहीं मानते। ईश्वर, जीव, परलोक, स्वर्ग, नरक, पुनर्जन्म इत्यादि २ बातें केवल मूर्खों को ठगने के लिए ही बुद्धिमान् मनुष्यों ने घड़ी हैं। इनमें सत्यता का नामो-निशान नहीं है। इस युक्ति क्रम में हमें भौतिक विज्ञानवादी पण्डितों के प्रति अपनी मानसिक दासता का अनुभव नहीं होता।

५. श्रुति में अविश्वास का कारण

प्राचीन काल में भी उपर्युक्त विचार के अनुयायी चार्वाक आदि थे, परन्तु आजकल की हमारी ईश्वर तथा वेदविषयक नास्तिकता का कारण वे नहीं हैं। हमारी दीर्घकालीन राजनैतिक पराधीनता से उत्पन्न मानसिक दासता ही इसमें हेतु है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमारी इस राजनैतिक दासता का हेतु अवश्य हमारी ही किसी प्रकार की भूलें तथा त्रुटियां थीं। पाश्चात्य देशों की राजनैतिक स्वतंत्रता तथा स्वर्गसदृश भोगैश्वर्य प्राप्ति में किसी प्रकार का कुछ गुण मान लेने में हमें कोई झिझक नहीं होनी चाहिए, परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता कि पाश्चात्य देशों की प्रत्येक बात हमारे लिए माननीय तथा अनुकरणीय है। उनके आध्यात्मिक-विचार, वेश भूषा, रस्मो-रिवाज, खान-पान तथा पारस्परिक व्यवहार आदि हमारे लिए सर्वथा प्रमाण नहीं हो सकते। क्योंकि उन देशों की केवल ऐहिक भोगवाद में ही आस्था है।

जिस मानसिक स्वतन्त्रता का हमें इतना अभिमान है, वह अति शोचनीय परतन्त्रता है। हम ईश्वर तथा परलोक आदि में विश्वास तथा प्राक्तन वर्णाश्रम व्यवस्था आदि को ही देश के पतन का कारण समझने लगे हैं। इस में सन्देह नहीं कि भिन्न २ मतों के अन्धविश्वास (कट्टरपन) ने अखण्ड भारत को खण्ड २ में विभक्त कर रखा है। और जन्म मात्र से वर्ण मानने के दुराग्रह ने वैयक्तिक तथा सामूहिक योग्यता, उन्नति और विकास का मार्ग बंद कर दिया है। यही कारण है कि हम ऐसा समझने लगे हैं कि रूस आदि पाश्चात्य देशों का अनुकरण करते हुए, हमें ईश्वर, मन्दिर, वेद, स्मृति तथा प्राचीन दर्शनों की शिक्षा तथा महत्त्व को शीघ्रतम सर्वथा उन्मूलन कर देना चाहिए। युरोप हमारे लिए ब्रह्मलोक बन गया है। वहां के आधुनिक संस्कृति के निर्माणकर्ता, विज्ञान वेत्ता, ईश्वर तथा प्राचीन ऋषि मुनियों की अपेक्षा अधिक हमारे मस्तिष्कों पर शासन कर रहे हैं।

६. शब्द प्रमाण की आवश्यकता तथा व्यापकता
गृह, परिवार, जातीयता आदि का आधार

इसमें सन्देह नहीं कि प्रत्यक्ष प्रमाण साधारणतया बहुत प्रबल प्रमाण है। परन्तु शब्द प्रमाण का कार्य-क्षेत्र अति विस्तृत है। जिसके अभाव में जीवन अत्यन्त

सारहीन, सौन्दर्यरहित तथा दुःखमय हो जाता है। मनुष्य को अपने माता पिता का ज्ञान केवल शब्द प्रमाण से ही हो पाता है, इस में प्रत्यक्ष प्रमाण की गति नहीं है। इस ज्ञान पर संपूर्ण वैयक्तिक, सामाजिक तथा राजनैतिक व्यवहार अवलम्बित है। यदि इस ज्ञान को सन्दिग्ध मान लिया जाए तो घर, घर नहीं रहेगा। प्राणियों को स्वाभाविक रूप से बांधने वाले तन्तु का विच्छेद हो जाएगा और उस पर अवलम्बित देश, जाति आदि के अन्य व्यवहार अस्त व्यस्त हो जायेंगे। क्योंकि किसी व्यक्ति के देश जाति का निर्णय करने के लिए भी उसके माता पिता का ज्ञान होना आवश्यक होता है। रूस के समान केवल देश तथा जाति की आधार शिला पर निर्मित संस्कृति उतनी बलवती तथा संघटित नहीं हो सकती।

७. मनुष्यत्व का आधार

यह हम निर्धारित कर चुके हैं कि शब्द के बिना समाज की कोई व्यवस्था नहीं बन सकती है। यदि शब्द का अभाव होता तो इस भूमण्डल पर मनुष्य भी न दीखता। शब्द प्रयोग के बिना किसी प्रकार की शिक्षा, उन्नति, विकास, भौतिक तथा आध्यात्मिक विज्ञान का सूत्र पात ही न हुआ होता। मनुष्य तथा पशु में कोई अन्तर न रहता। भले ही इसका अन्य प्राणियों से आकार भेद दिखाई देता रहता। मनुष्यों का परस्पर व्यवहार वाणी पर ही निर्भर है। यदि दो मौनी एक स्थान पर एकत्रित हो जायें तो उनके परस्पर व्यवहार की मात्रा कितनी न्यून हो जाती है, इसकी कल्पना की जा सकती है। सकेतमात्र से वे कहाँ तक अपने मनोभावों को एक दूसरे पर व्यक्त कर सकते हैं।

८. सम्पूर्ण मानवीय कार्यक्षेत्र में शब्द की आवश्यकता

समाचारपत्र आजकल के जीवन का अनिवार्य अंग है। वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक तथा आध्यात्मिक, किसी भी कार्यक्षेत्र मे मनुष्य अपने ध्येय को हानि पहुंचाए बिना समाचार पत्र अध्ययन से उदासीन नहीं रह सकता। मानव जाति इस समय परस्पर इस प्रकार संघटित हो चुकी है कि एक भाग की हलचल दूसरे भाग पर अवश्य प्रभाव डालती है। समाचार पत्र, रेडियो आदि जो कि इस युग की महती शक्ति है, शब्द प्रमाण के असाधारण प्रभुत्व का एक साधारण उदाहरण हैं।

बड़े से बड़े बुद्धिमान् शिक्षित मनुष्य को शारीरिक रोगो की चिकित्सा के समय चिकित्सक के निर्देशानुसार नेत्र मून्द कर व्यवहार करना पड़ता है। साधारण मनुष्य विज्ञान के सामान्य सिद्धान्तो या अन्तिम विशेष परिणामों को सिद्ध नहीं कर सकता। परन्तु उनको यथार्थ मानता हुआ यथावसर उनका प्रयोग करता है।

९. वर्तमान काल के उच्च कोटि के पाश्चात्य विद्वानों द्वारा शब्दप्रमाण का उपयोग

एक एक विषय के प्रसिद्ध प्रौढ़ विद्वान् अन्य संबंधित विषयो के सिद्धान्तो को सिद्ध नहीं कर सकते परन्तु उनका उपयोग अपने कार्यक्षेत्र मे किया ही करते हैं। जैसे गणित के अनेक बीज (गुर Formula फार्मूला) रसायन तथा भौतिकी शास्त्रो (Chemistry and Physics) में प्रयुक्त होते हैं। कारीगर (Mechanic) अपने २ कामों के आधारभूत सिद्धान्तो के रहस्य को न समझते हुए भी उनका उपयोग करता है। डार्विन के विकासवाद (Evolution Theory) को कितने व्यक्ति सिद्ध कर सकते हैं?

परन्तु बहुत से फिर भी उसको तथ्य मानते हुए अपने विचार की पुष्टि में प्रमाण रूप से उपस्थित करते हैं।

कुछ वर्षों से Four Dimensional Theory (चतुर्परिमाण सिद्धान्त) का आविष्कार हुआ है। जिस में लम्बाई, चौड़ाई तथा ऊंचाई के अतिरिक्त एक अन्य Dimension (परिमाण) भी माना जाता है। उसको भली भांति समझने वाले गणितज्ञ संसार में बहुत थोड़े हैं; सुप्रसिद्ध विद्यालयों के गणित की उच्च शिक्षा के विशेष विख्यात तथा प्रवीण अध्यापकों की बुद्धि भी इस गम्भीर रहस्य को ग्रहण नहीं कर सकी। परन्तु इस सिद्धान्त के जानकारों की बुद्धि पर विश्वास करते हुए मानते ही हैं। अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि आप्त पुरुषों के वचन में श्रद्धा तथा विश्वास किये बिना हमारा एक क्षण के लिए भी निर्वाह नहीं हो सकता। क्योंकि पुरुष का स्वरूप श्रद्धामय है:—

सत्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥ गीता १७,३.

सब प्राणियों की स्व स्व बुद्धि अनुरूपा ही श्रद्धा होती है। यह पुरुष श्रद्धामय है। जैसी जिसकी श्रद्धा है वही उसका स्वरूप है। हे अर्जुन! सब प्राणियों की श्रद्धा, विशिष्ट संस्कार युक्त अन्तःकरण के अनुरूप (समान) ही होती है। यह संसारी जीव श्रद्धा-प्रधान ही होता है। जैसी जिसकी श्रद्धा है अर्थात् जैसे पदार्थों, कार्यों, उद्देश्यों तथा पुरुषों में उसकी श्रद्धा होती है, उस पुरुष को ऐसा ही समझो। अंग्रेजी में भी एक लोकोक्ति है :—Man is known by the Company he keeps. मनुष्य अपने संग से पहिचाना जाता है। श्रद्धा शून्य कोई पुरुष नहीं हो सकता, भेद केवल इसमें होता है कि सब का प्रमाणभूत पुरुष एक नहीं होता।

१०. भौतिक विज्ञान वादियों का आक्षेप

इस पर भौतिक विज्ञान वादियों का कहना है कि भौतिक विज्ञानवाद के सिद्धान्तों का आधार प्रयोगसिद्ध प्रत्यक्ष है। यद्यपि इन प्रयोगों को प्रत्येक पुरुष स्वयं सिद्ध नहीं करता है। क्योंकि प्रायः इसकी सिद्धि के बाह्यसाधन हर एक को प्राप्त नहीं होते। एवं हर एक का मस्तिष्क भी इतनी योग्यता नहीं रखता कि वह स्वयं इन सिद्धान्तों के गूढ़ रहस्य को ग्रहण कर सके। तथापि भौतिक विज्ञानवाद में 'प्रवीण मनुष्यों ने प्रत्यक्ष प्रयोगों द्वारा इन सिद्धान्तों को निर्धारित किया है। यदि किसी की इच्छा तथा योग्यता हो तो वे उपयुक्त प्रयोगों द्वारा अपने सिद्धान्तों को उसे भली भांति हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष दिखा सकते हैं।

आक्षेप का समाधान—श्रुति, उपनिषद् आदि प्रमाण भी सर्व साधारण जनता के लिए शब्द प्रमाणान्तर्गत हैं। जैसे वैज्ञानिक सिद्धान्त रूपी शब्द प्रमाण की आधार शिला प्रसिद्ध वैज्ञानिकों का प्रत्यक्ष है, वैसे ही श्रुति भी ईश्वरीय प्रत्यक्ष ज्ञान है।

११. वेद और श्रुति शब्द की व्युत्पत्ति तथा निरुक्ति

वेद शब्द विद् ज्ञाने, सत्तायां, विचारणे चेतनाख्याननिवासेषु तथा विद्लृ लाभे इत्यादि पांच धातुओं से व्युत्पन्न होता है। अर्थात् जिससे या जिस द्वारा सब मनुष्य सम्पूर्ण सत्यविद्या को जानते हैं, जो मानवीय जीवन का आधार है, जिस के द्वारा परम

लाभ होता है, विवेकपुरस्सर जिसके द्वारा आत्मानात्मविवेचन किया जाता है, जो भगवान् के ज्ञान का सुप्रसिद्ध भण्डार, सत्यमार्ग का दर्शक तथा सर्वविध मानवीय व्यवहार का द्योतक आदि स्रोत है, उसे वेद कहते हैं। ऐसे ही श्रुति शब्द भी 'श्रु' श्रवणे धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय द्वारा व्युत्पन्न होता है। श्रूयते सर्वैरनया स्व स्वानुरूपाः शिक्षादयः इति श्रुतिः। अर्थात् जिसका निर्माण कर्त्ता कोई मनुष्य नहीं है। आदि सृष्टि से लेकर आज तक ब्रह्मादि महर्षि तथा अन्य सब व्यक्ति जिसके द्वारा स्वस्वानुरूप शिक्षा तथा आदेश आदि सुनते हैं। जो सब मनुष्यों के हित को सुनाती है या जिस द्वारा सुना जाता है, उसे श्रुति कहते हैं। यह भगवान् का ज्ञान ही हो सकता है।

१२. श्रुति निरुक्ति तात्पर्य

ईश्वरीय प्रत्यक्ष-ज्ञान का नाम वेद है। आभ्यन्तर दिव्य श्रोत्रसम्पन्न ऋषि मुनियों ने अपने स्वच्छ, स्थिर और सूक्ष्म अन्तःकरण रूपी आकाश में इस परम पुनीत ईश्वरीय वाणी रूप वेद को श्रवण किया है, इसलिए इसको श्रुति कहते हैं। उन्होंने इसका श्रवण उसी प्रकार किया है जिस प्रकार हम अपनी बाह्य श्रवणेन्द्रिय से साधारण शब्द तथा शिक्षा का श्रवण करते हैं। दिव्यश्रोत्र तथा आकाश वाणी पर साधारण जनता तथा कुतर्कियों का आक्षेप सर्वथा ऐसे निराधार है, जिस प्रकार श्रवण शक्ति रहित बधिर का साधारण शब्द तथा श्रोत्र पर आक्षेप व्यर्थ होता है। दिव्यश्रोत्र तथा आकाश वाणी पर अविश्वास तथा अश्रद्धा करना अपनी मूढ़ता, अनभिज्ञता तथा अहंकृति का द्योतक है। मानवीय शक्ति की मर्यादा या अवधि का साधारण जन की सामर्थ्य अनुभूति तथा विभूति द्वारा निर्णय करना मानवीय ऐश्वर्य, बल, बुद्धि आदि की हीनता तथा शोचनीय अवस्था को ही प्रमाणित करना है। क्योंकि मानवीय उन्नत बल, बुद्धि तथा अन्य विकास आदि का अनुमान तो जगत् की सुप्रसिद्ध विशेष २ व्यक्तियों के निर्मल, उच्च तथा आदर्शभूत जीवनों द्वारा ही किया जा सकता है। जिस प्रकार शारीरिक बल, शौर्य तथा वीरता में भीम, अर्जुन, रुस्तम, राममूर्ति आदि से, उज्ज्वल, सूक्ष्म तथा स्थिर बुद्धि सम्पन्नता में सुकात, न्यूटन, काण्ट तथा शङ्कर आदि से और दया, धर्म, त्याग, योग, अहिंसा, राजनीति आदि में आदर्शभूत राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसा, गांधी आदि से अनुमान करना उचित होगा। ये श्रेष्ठ, व्युत्पन्न व्यक्ति ही हमारे लिए आदर्श हो सकते हैं। हम अपनी बुद्धि, शक्ति तथा अनुभव के आधार पर उनके शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक विकास तथा उन्नत स्थिति को यत्किञ्चित् भी नहीं समझ सकते। इनके उज्ज्वल दिव्य मुख देखने के लिए, उनके परम पावन चरण कमलों में बैठने के लिए और उनके पदचिह्नों पर चलने के लिए हमारे पास श्रद्धा का ही केवल एक सहारा है। इस श्रद्धा रूपी अलौकिक चक्षु से ही हम उनकी दिव्य झलक निहार सकते हैं। तथा शक्ति, बुद्धि, धर्म, न्याय, मर्यादा और जिज्ञासाहीन अपने जीवनों को उन्नति के शिखर पर पहुंचाने की आशा कर सकते हैं। सर्व साधारण जन की सामान्य स्थिति तो इतनी दुःखमयी, नरक रूपा है कि ऐसी दशा में जीवित रहने से मृत्यु ही अच्छी प्रतीत होने लगती है। इन महान् तथा आदर्श पुरुषों का आदर्श ही जीवन में ज्योति तथा प्रकाश-स्तम्भ का काम देता है तथा आशा का सञ्चार कर सकता है।

१३. वेद निरुक्ति (तात्पर्य)

ऐसे ही दिव्य चक्षु सम्पन्न ऋषियों ने वेद मंत्रों को प्रत्यक्ष देखा। तत्वज्ञ तथा साक्षात्कार सम्पन्न ही ऋषि कहलाते हैं। जिस प्रकार हम इन भौतिक चर्म चक्षुओं से पुस्तक रूपी वेद को देखते तथा पढ़ते हैं, उसी प्रकार उन परम पूज्य महर्षियों ने परलोक तथा पुनर्जन्म आदि को अपने दिव्य नेत्रों से प्रत्यक्ष देखा। इसलिए इस ज्ञान का नाम वेद (प्रत्यक्ष) ज्ञान पड़ा। उन महापुरुषों के ऐसे प्रत्यक्ष ज्ञान को समझने के लिए आचार्य कुल में रह कर अध्ययन तथा साधन करने के पश्चात् योग्यता उत्पन्न होती है। परन्तु ईश्वर का प्रत्यक्ष ज्ञान वेद नित्य सिद्ध है। यही उपर्युक्त शिक्षा की परम्परा का मूल है। प्रातःस्मरणीय, योग के आचार्य महर्षि पतञ्जलि नियमानुभूत योग शास्त्र में कहते हैं :— "स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ।" (योग १,२६)—"ईश्वर प्रति सर्ग के आरम्भ में उत्पन्न होने वाले ब्रह्मादि का भी गुरु है (ज्ञान चक्षु प्रद पिता है)। क्योंकि ब्रह्मादि देश, काल तथा वस्तु के परिच्छेद से परिच्छिन्न तथा मर्यादित हैं। और षड्भाव विकार युक्त होने के कारण सादि तथा सान्त हैं। परन्तु ईश्वर देश, काल तथा वस्तु के परिच्छेद से अनवच्छिन्न, अमर्यादित, अनादि, अनन्त, सर्वज्ञ तथा निरतिशय ज्ञानघन है। क्योंकि जन्म लेने वाला पुरुष शिक्षित उत्पन्न नहीं होता, उसे किसी न किसी शिक्षक की आवश्यकता होती है। सर्गारम्भ में उत्पन्न होने वाले ब्रह्मादि का कोई न कोई शिक्षा प्रदान करने वाला गुरु होना चाहिए। अतः नित्य शुद्ध बुद्ध, मुक्तस्वभाव, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, निर्विकार, स्वतःसिद्ध दयानिधि, ईश्वर को ही सब का गुरु मानना पड़ता है। क्योंकि उसके अतिरिक्त उसके समान या उससे अधिक अन्य कोई भी नहीं है। श्रुति हाथ उठा कर यह घोषणा कर रही है कि :—"यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै" (श्वेताश्वतर उप० ६,१८) "जो सर्ववित् ईश्वर सर्ग के आदि में ब्रह्मा को उत्पन्न करके उसके लिए वेद प्रदान करता है। मुमुक्षु को उसी की शरण लेनी चाहिए।"

१४. वेद की अपौरुषेयता

सब सत्य विद्याओं का मूल वेद, ईश्वर का नित्य स्वतःसिद्ध स्वाभाविक ज्ञान है। वे इसे मनुष्य मात्र के कल्याणार्थ ब्रह्मादि को प्रदान करते हैं। इनको किसी उत्पत्ति विनाश शील कवि या विद्वान् ने अपने चक्षु आदि इन्द्रियों या मनो बुद्धि द्वारा उपलब्ध ज्ञान के प्रचारार्थ निर्माण नहीं किया। परम दयालु, करुणा सागर, सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान्, देश-कालानवच्छिन्न ईश्वर के इस स्वतः सिद्ध स्वाभाविक ज्ञान में वेद, उपनिषद्, शास्त्र, स्मृति, इतिहास पुराणादि के शतशः प्रमाण हैं। जैसे "शास्त्र योनित्वात्" ब्रह्म सूत्र (१,१,३) वेद का कारण ईश्वर है। "तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्" वैशेषिक (१,१,३) धर्म का कर्तव्य रूप से ईश्वर द्वारा प्रतिपादित होने से वेद की प्रामाण्यता है। न्याय २,१,६७; यजुर्वेद ४०,८ इत्यादि।

"God's mind is the rational order of the Universe." Plato (बुद्धि पूर्वक तथा यौक्तिक संसार का रचना क्रम ही ईश्वरीय ज्ञान का द्योतक है। अतएव सर्वत्र व्यापी तथा निरन्तर नियत क्रम आदि ईश्वरीय ज्ञान की ही संसार पर एक मात्र छाप है।) "बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे" वैशेषिक (६,१,१)। एवं "वेद के वाक्यों की

रचना भी अलौकिक ज्ञान पूर्वक ही है।" वह ज्ञान भगवान् से अतिरिक्त अन्य किसी का नहीं हो सकता। अतः इससे यही सिद्ध होता है कि वेद किसी पुरुष की कृति नहीं प्रत्युत भगवान् का ज्ञान है, तभी यह अपौरुषेय कहलाता है।

१५. श्रुति और ईश्वर विषयक अन्योऽन्याश्रयदोषारोपण तथा उसका परिहार

इस में यह आक्षेप हो सकता है कि सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म की सिद्धि के लिए श्रुति या वेद को उपस्थित करना और वेद के परम प्रमाणार्थ ईश्वरीय वचन या ज्ञान रूप होने का हेतु देना अन्योऽन्याश्रय दोष युक्त हेतु है। इसी को अंग्रेजी में Arguing in a circle कहते हैं। परन्तु विवेक पुरस्सर स्वल्प विवेचन से ही यह प्रतीत होता है कि यहां पर इस आक्षेप का अवसर ही नहीं और न अन्य ही कोई आक्षेप इसमें हो सकता है। जैसे रूपमात्र के बोधार्थ केवल चक्षु ही प्रमाण हैं, और रूपप्रतीति ही चक्षु इन्द्रिय के अस्तित्व का बोधक है। यदि जगत् में रूप का अभाव होता तो चक्षु इन्द्रिय के अस्तित्व का बोध भी असंभव हो जाता। यही दशा सब इन्द्रियों तथा उनके शब्द स्पर्श आदि विषयों की है। ये परस्पर ही एक दूसरे के सद्भाव को प्रमाणित करते हैं। साधारणतया जगत् में यही प्रचलित तथा प्रसिद्ध है कि चक्षु इन्द्रिय द्वारा रूप का बोध होता है। ऐसा कोई नहीं कहता कि रूप द्वारा चक्षु का बोध होता है। परन्तु फिर भी चक्षु आदि इन्द्रियों के सद्भाव की प्रमाणता तो रूपादि उनके विषयों से ही संभव है।

यदि हम शब्द रहित निर्जन स्थल में हों तो श्रवणेन्द्रिय युक्त होने पर भी श्रवण इन्द्रिय की श्रवण शक्ति रूप सम्पत्ति का हमें कुछ बोध न होगा। क्योंकि शब्द ही उसके बोध का एक मात्र हेतु है।

इसी प्रकार जगत् में यही विख्यात है कि चुम्बक लोहे को खींचता है। परन्तु यह भी तथ्य है कि लोहा भी चुम्बक को खींचता है। यह उनका आकर्षण पारस्परिक है। आकर्षण का अधिक बल या नियामकता गुरुत्व (भारीपन) में है। उन दोनों में जो भारी होगा, वह दूसरे को अपनी ओर खींच लेगा। लोहा हो अथवा चुम्बक दोनों में आकर्षण शक्ति विद्यमान है। लोहे के अभाव में चुम्बक का निर्णय असंभव है। ऐसी परिस्थिति में चुम्बक के बोध में लोहा ही एक मात्र कारण तथा हेतु ठहरता है।

ऐसे ही ईश्वर तथा वेद के विषय में उपर्युक्त दोष भी निर्मूल है। अनन्त संसार की विचित्र रचना तथा वेद का ज्ञान उस सर्व शक्तिमान्, सर्वज्ञ ईश्वर के अस्तित्व के बोधक हैं, तथा ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार किये बिना वेद का अस्तित्व तथा प्रामाण्य सिद्ध नहीं होता। ईश्वर, ईश्वरीय ज्ञान वेद तथा ईश्वरीय शक्ति को पृथक् २ नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार अग्नि तथा उसकी दाहक शक्ति को। एक के अभाव (ध्वंस) से दोनों का अभाव हो जाता है। दाह शून्य अग्नि कोई सत्ता पदार्थ नहीं हो सकता। वह तो नाम मात्र ख-पुष्प के समान ही होगा। इसी प्रकार बृहत् वेद ज्ञान तथा अनन्त सामर्थ्य रहित ईश्वर भी नाम मात्र का ही ईश्वर होगा। अनन्त ज्ञान वेद तथा सामर्थ्य (शक्ति) की अपने आधार ईश्वर के बिना (अग्नि के बिना दाह की तरह) कल्पना भी नहीं की जा सकती। जैसे हमारा ज्ञान हमें छोड़ कर कहीं स्वतंत्र रूप से आकाश में नहीं लटक सकता। इसीलिए ऊपर उद्धृत ब्रह्म सूत्र "शास्त्रयोनित्वात्" वेदान्त (१,१,३) के प्रायः दो प्रकार के अर्थ किये जाते हैं। (१) ब्रह्म बृहत् वेद का कारण होने से सर्वज्ञ है तथा

(७) ईश्वर (ब्रह्म) के ज्ञान में परम प्रमाण (योनि=कारण) वेद है।

१६. श्रुति का परम प्रामाण्य

परमात्मज्ञान अन्य सब प्रमाणों का आधार है—हमारा गुरु हमारे ज्ञान का स्रोत है, जहां पर यह गुरु परम्परा समाप्त होती है। जो केवल गुरु ही है, किसी का शिष्य नहीं है, जिसका स्वरूप निरपेक्ष सत्तावान् तथा सूर्य समान स्वतः प्रकाश तथा स्वतः सिद्ध है (Self-existant, Self-luminous, Self-evident) है। जिस प्रकार सूर्य नभोमण्डल तथा भूमण्डल के प्रकाश तथा गर्मी का एक मात्र हेतु है; उसी प्रकार भगवद् ज्ञान ज्योति रूप वेद प्राणी मात्र के ज्ञान का आधार तथा मूल स्रोत है। अतएव वेद की परम प्रमाणता भी स्वतः सिद्ध है। "तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" कठोपनिषद् वही (५,१५.)। "उस स्वतः प्रकाशमय परमेश्वर के ज्ञानमय प्रकाश से अन्य सब सूर्य चन्द्र आदि प्रकाशित होते हैं। उस भगवती ज्ञान ज्योति से सब स्थावर जंगम जगत् सत्तावाला तथा प्रकाशित हो रहा है।" भगवान् की ज्ञान ज्योति का नाम ही वेद है। उस स्वतः सिद्ध ज्ञान के बिना जगत् के सर्वविध पदार्थ तथा प्रमाण चक्षु आदि अपनी सत्ता तथा प्रमाणत्व को ही सिद्ध नहीं कर पाते। ईश्वरीय ज्ञान ही प्रमाणों का प्रमाण है।

यह हमारा कितना अज्ञान तथा भ्रम है कि हम अल्पज्ञ, मूढ़ तथा नाशवान् प्राणियों की चञ्चल, मलिन तथा स्थूल बुद्धि, विषय लोलुप मन तथा बहिर्मुख चक्षु आदि इन्द्रियों को स्वतः सिद्ध, स्वतः प्रकाश और असंदिग्ध प्रमाण मानते हैं। और इनके आधार पर, नित्य शुद्ध, बुद्ध, सदा मुक्तस्वभाव, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, स्वतः प्रकाश, स्वतः सिद्ध, स्वतंत्र, सच्चिदानन्दैकरसस्वरूप, ईश्वर की सिद्धि करना चाहते हैं। क्या यह सूर्य को प्रदीप से प्रकाशित करने के समान मूर्खता नहीं है। इसी विषय में न्याय कुसुमाञ्जलिकार कहते हैं:—

"साक्षात्कारिणि नित्ययोगिनि परद्वारानपेक्षस्थितौ,
भूतार्थानुभवे निविष्टनिखिलप्रस्ताविवस्तुक्रमः।
लेशादृष्टिनिमित्तदुष्टिविगमप्रभ्रष्टशङ्कातुषः,
शङ्कोन्मेषकलङ्किभिः किमपरैस्तन्मे प्रमाणं शिवः॥ न्याकु० ४,६.

"अनन्त, अचिंन्त्य तथा अमोघ ज्ञानशक्ति से महेश्वर को त्रिलोकगत त्रैकालिक पदार्थों का साक्षात्कार रूप अनुभव सदा एक रस तथा अविच्छिन्न बना रहता है। उनका ज्ञान हमारे ज्ञान के सदृश आगमापायी, सादि, सान्त, सापेक्ष्य तथा वृद्धि-ह्रास युक्त नहीं होता। प्रत्युत स्वतः सिद्ध, निरपेक्ष्य, सदा एकरस रहने वाला होता है। परमेश्वर के ज्ञानमय संकल्प में प्रलय के अनन्तर, सर्ग के आरम्भ में, पूर्ववर्ति सर्वविध स्थावर जङ्गम पदार्थों को याथातथ्य उत्पन्न करने की सामर्थ्य रहती है। सर्वविध सृष्टि उसी ईश्वरीय संकल्प से उत्पन्न होती है; उसी में स्थिर रहती है तथा अन्त में उसी में लीन हो जाती है। "जन्माद्यस्य यतः" ब्रह्म सूत्र (१,१,२.) जिस ईश्वर के ज्ञानमय संकल्प मात्र से सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय होती है उसी की शरण लेनी चाहिए। इसी बात को श्रुति

कहती है :—"'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशंति तद्विजिज्ञासस्व" तैतिरीयोपनि० (३,१)।

इसलिए अज्ञानजन्य सर्वविध दोषों से विमुक्त नित्य शुद्ध, स्वतःप्रकाश, सर्वज्ञ, सच्चिदानन्दघनस्वरूप ईश्वर तथा उसका वेदरूप ज्ञान ही हमारे लिए परम प्रमाण है। न कि सर्वविध दोष तथा शङ्काओं का स्थलभूत और अज्ञानजन्य अनेक विभ्रमादि त्रुटियों का आगार अल्पज्ञ मनुष्यों का प्रत्यक्ष, अनुमानादि। तात्पर्य यह है कि हमारे लिए सदा, सर्वत्र, सर्वत्र, सर्वावस्था में निरपेक्ष निष्कलङ्क तथा परमप्रमाण शिव (ईश्वर) ही है।"

१७ प्रत्यक्ष, अनुमान तथा श्रुति के तुलनात्मक विचार द्वारा श्रुति की अपूर्वता

यहां पर यह प्रश्न होता है कि श्रुति तथा उपनिषद् आदि में ब्रह्म विषय के, अनेक प्रमाण मिलते हैं। परन्तु प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों का भी इस विषय में कुछ विवेचन होना चाहिए।

१८. प्रत्यक्ष प्रमाण विवेचन

१९. वैदिक प्रत्यक्ष

आप्त पुरुष का प्रत्यक्ष—ऐसे आप्त पुरुषों के प्रत्यक्ष के विषय में हम पूर्व भी लिख चुके हैं, जिनका अन्तःकरण भगवदर्पण बुद्धि से वर्णाश्रमोचित शास्त्रोक्त कर्म करते २ तथा योग आदि द्वारा शुद्ध हो चुका है। उनके अनुभवयुक्त वचन तो श्रुति का समर्थन करते ही हैं। परन्तु उनके वचनों की सार्थकता तथा प्रमाणत्व की झलक उनके निर्भीक, आनन्दमय मस्ती भरे जीवनों तथा विषय लोलुप अज्ञानियों और नास्तिकों के दुःखमय शोकग्रस्त भयभीत जीवनों के भेद से स्पष्ट प्रगट होती है। ऐसे आप्त पुरुषों का मौनमय संग तथा एक दो वचन कट्टर नास्तिकों के जन्म जन्मान्तरों के संशय तथा अश्रद्धा आदि दोषों की कालिमा को धो डालते हैं। उनका मुख मण्डल सदा आनन्दमय-ज्योति, तेज तथा ओज से देदीप्यमान रहता है। वे आध्यात्मिक आकर्षण शक्ति की साक्षात् मूर्ति होते हैं। प्राणिमात्र उनकी ओर स्वभावतः ही आकृष्ट हो जाता है। उनके वचन मधुर, प्रिय तथा मार्मिक होते हैं। वे अपने स्वतः प्रमाणत्व को सच्चे जिज्ञासुओं के हृदयों में अनायास ही स्थापित कर देते हैं। जिज्ञासु का हृदय उनके दर्शनमात्र से निःशङ्क होकर हर्षाकुल हो उठता है। जैसे सूर्य के उदय होने पर सूर्यमुखी फूल स्वभावतः ही खिल उठते हैं। यदि सूर्य के उदय होने पर भी उल्लू को कुछ नहीं दीखता तो क्या इतने मात्र से सूर्य अन्धकारमय सिद्ध हो जाता है? आत्मवेत्ता पुरुषों के वचनों का प्रभाव तो अकथनीय होता ही है। उनकी मौन मुद्रा भी दर्शकों के हृदयंगत अज्ञानजन्य संशय, भ्रान्ति तथा अश्रद्धारूपी ग्रन्थियों को क्षणमात्र के संपर्क से छेदन भेदन कर देती है, और अपने स्वतः प्रमाणत्व को बिना किसी हेतु के ऊपर सिद्ध करती है। उनकी यह मौनमयी भाषा साधारण लौकिक भाषा से निराली होती है। इस प्रकार के महापुरुषों का दिव्य जीवन उनके अखण्ड तथा अद्वितीय आनन्द की अनुभूति में प्रमाण है। उनके तेजोमय पवित्र जीवन के सामने शुष्क तर्क इस प्रकार

तुरन्त भस्मसात् हो जाता है जैसे अग्नि के सामने तृण। वे ही सर्वविध प्रमाणों को वास्तविक प्रमाणता प्रदान करते हैं। वे इस शब्द प्रमाण की भी आधारशिला हैं। चौंसठ विद्या विशारद, शब्द ब्रह्म की साक्षात् मूर्ति तथा तर्कनिपुण श्री नारदऋषि सरीखे भी ऐसे तत्त्व वेत्ताओं की शरण में आकर अपनी शोकज्वाला की शान्ति के के लिए, परमबोध रूप परम सुख की अभ्यर्थना करते हैं। "अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमार नारद" छान्दोग्य (७,१) "तरति शोकमात्मवित् सो भगवाञ्छोकस्य पारं तारयतु" (७,१,३) ऐसे महापुरुष ही संसार के अज्ञान, मौलिक कुरीतियों तथा अन्याययुक्त आचरण का विरोध करते हैं। उन्हें चक्रवर्ति सम्राट् का भी तनिक भय नहीं होता। वे सत्य के लिये अपने प्राणों की होली आनन्द से खेल जाते हैं। विष को अमृत के समान पी जाते हैं, कारागारों को स्वर्ग के उन्नत प्रासाद समझते हैं। शीतोष्ण, क्षुधा पिपासा, सुख-दुःख आदि दारुण द्वन्द्व उन्हें सत्य तथा न्याय के मार्ग से विचलित नहीं कर सकते।

> निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु
> लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
> अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
> न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥ भर्तृहरि नीतिशतक ७४"

"धीर पुरुषों की नीतिविशारद जन निन्दा करें या स्तुति करें, उनके पास संसार भर की लक्ष्मी आजाए, या आई हुई चली जावे; उन्हें यमराज चाहे आज ही अपना ग्रास बनाले या वे कल्पान्तर पर्यन्त जीवित रहें; परन्तु उन्हें सत्य और न्याय के मार्ग से कोई व्यक्ति, पदार्थ, दृश्य, सौन्दर्य, प्रलोभन तथा भय एक पद भी विचलित नहीं कर सकता। वे मरण पर्यन्त सत्य मार्ग पर ही आरूढ रहते हैं। न्याय तथा सत्यपथ से भ्रष्ट न होने को ही वे परमार्थ का उच्च साधन तथा स्वरूप समझते हैं।

२०. लौकिक प्रत्यक्ष

प्राकृतिक जन प्रत्यक्ष

विधाता ने पांच ज्ञानेन्द्रियों की रचना बहिर्मुख की है। ये अपने अपने रूपादि क्षणभगुर तथा परिणामी विषयों को ग्रहण करती हैं। सच्चिदानन्दैकरस, अपरिणामी, नित्यतत्त्व तक इनकी गति नहीं है। साधारण, अस्थिर, अस्वच्छ तथा स्थूल बुद्धि भी परतत्त्व ग्रहण के लिए नितराम असमर्थ है। वह बेचारी तो क्या, लज्जा तथा भय आदि मानसिक विकारों को ही कथञ्चित ग्रहण कर सकती है। वह भूमातत्त्व इन परिच्छिन्न साधनों की पहुंच से सर्वथा परे है। वह अखण्ड तत्त्व वाङ्मनसागोचर है। "न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो" केनोप० (१,३,८) उस परतत्त्व तक मन, वाक् तथा चक्षु आदि इन्द्रियां नहीं पहुंचती। "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह, आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन" तैत्तिरीय० (२,६) "सामान्य संसारी के मन, बुद्धि तथा चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियां तथा वागादि कर्मेन्द्रियां जिस सच्चिदानन्दैकरस पर ब्रह्म के स्पर्शन, दर्शन, कथन, श्रवण तथा अनुभव में

सर्वथा असमर्थ है। साधन सम्पन्न, स्थिर स्वच्छ-सूक्ष्मबुद्धियुक्त मुमुक्षु उसी परमानन्द भूमातत्त्व के हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष दर्शन द्वारा सर्वतो निर्भय, अजर, अमर, पद को प्राप्त करता है।"

चक्षु आदि इन्द्रिया तथा मन भी एक प्रकार का विकार ही है। इनका क्षण २ मे परिणाम अनुभव गोचर हो रहा है। जैसे परिणामशील बाह्य पदार्थों का आधार तथा मूलकारण कोई अन्य स्थिर, परिवर्तन रहित, निर्विशेष, निर्विकार परतत्त्व है। वैसे ही इन चक्षु आदि बाह्यकरणो तथा मन आदि अन्तःकरण का मूल कारण भी वही कूटस्थ है। इनकी स्थिति तथा नियति आदि का नियामक तथा व्यवस्थापक वही कूटस्थ है। इसलिये यह अन्तर्बाह्यकरण उसे कैसे ग्रहण कर सकते है। जैसे एक पुत्र अपने पिता को उत्पन्न करने मे असमर्थ होता है, उसी प्रकार ये भी उसके ज्ञान मे असमर्थ हैं। "श्रोत्रस्य श्रोत्र मनसो मनो यद् वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणश्चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीरा प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति।" (केन० १,२) "वह ब्रह्म कान का कान, मन का मन, वाणी की वाणी, प्राण का प्राण तथा चक्षु का चक्षु है। तात्पर्य यह है कि जो श्रोत्र आदि इन्द्रियो को अपने अपने विषय मे नियमन करके उनकी उपलब्धि का हेतु तथा सामर्थ्य दाता है वही ब्रह्म है। ये सब करण ग्राम उसके बिना स्व-विषय ग्रहण मे सर्वथा निस्तेज तथा असमर्थ होते है।

"A pair of tongs can catch almost any thing else, but how can it turn back and grasp the fingers which hold it So the mind or intellect can in no wise be expected to know the great unknowable, which is its very Source ' (Rama's in woods of God realisation Vol V P 1,2,1)"चिमटा प्रायः अन्य हरेक वस्तु को पकड सकता है। परन्तु वह लौट कर इन उगलियों को कैसे पकड़ सकता है जो उसको थामे हुए हैं।

२१. अनुमान विवेचन

२२. अनुमान प्रमाण की अद्वितीय, असंग तत्त्व में अगति

अनुमान प्रमाण का आधार साध्य-साधन का व्याप्तिसम्बन्ध है। अर्थात् पूर्व यत्र तत्र साधन (धूम) को साध्य (अग्नि) के सहित ही देखा हो, तो इस अव्यभिचारी सम्बन्ध के आधार पर किसी अन्य स्थल पर्वत आदि पर साधन-हेतु (धूम) के ज्ञान से साध्य (अग्नि) का ज्ञान अनुमान कहलाता है। परन्तु जिसको कहीं पहिले प्रत्यक्ष किया ही न हो और जो अखण्ड अद्वितीय तत्त्व साधन साध्य सम्बन्ध का विषय ही न हो। जो सर्व सम्बध रहित असग हो, असगोऽयपुरुष—यह अनादि तत्त्व सग रहित है'। (बृहदारण्यक)। ऐसे तत्त्व के सम्बधी का ज्ञान कैसे हो सकता है? जिसके द्वारा उस मूल तत्त्व का अनुमान किया जा सके। इसलिए यह स्वीकार करना पड़ता है कि वह भूमा, पर ब्रह्म तत्त्व अनुमानगम्य नहीं है।

२३. कार्य से कारण का अनुमान तथा अखण्ड तत्त्व में इसका उपयोग

यदि सामान्य कार्य कारण भाव को लेकर विचार किया जाए, कि जैसे घट-शरावादि विकारो का मूल स्थिर विकार रहित मृत्तिका है। वैसे ही इस सर्व विकारमय जगत् का भी कोई स्थिर, कूटस्थ, निर्विकार तत्त्व ही मूल कारण है। वही ब्रह्म है।

यद्यपि इस प्रकार का अनुमान, कार्य के अपने कारण का निश्चायक होता है। तथापि ऐसे अनुमान से वस्तु का सामान्यज्ञान ही संभव होता है। इससे उसके स्वरूप का विशेष ज्ञान संभव नहीं है।

२४. सामान्यतोदृष्ट अनुमान का विषय

"श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्" योगसूत्र (१,४९) "निर्विचार समाधि से उत्पन्न होने वाली, तथा परम सत्य को ग्रहण करने वाली ऋतम्भरा प्रज्ञा का विषय शब्द तथा अनुमान प्रमाणों के विषयों से सर्वथा भिन्न होता है। क्योंकि शब्द तथा अनुमान का विषय तो वस्तु का सामान्य स्वरूप होता है और ऋतम्भरा बुद्धि का विषय उनसे अत्यन्त विलक्षण वस्तु का विशेष स्वरूप होता है। यही कारण है कि अनुमानजन्य ज्ञान पूर्ण ज्ञान नहीं होता, प्रत्युत अधूरा ज्ञान होता है। एवं संबंध रहित भूमा आत्मतत्त्व के संबंधी के अभाव के कारण अनुमान प्रमाण द्वारा उसका ज्ञान कदापि संभव नहीं है।

२५. अनुमान की वास्तविक सामर्थ्य

वास्तव मे परतत्त्व के ज्ञान के संबंध में अनुमान प्रमाण की सामर्थ्य केवल यहीं तक सीमित है कि इसके द्वारा प्रतिपक्षी द्वारा किये गए परतत्त्व विषयक असंभावना दोष के आक्षेप को निवृत्त किया जावे। और यह प्रतिपादित किया जाये कि अखण्ड भूमातत्त्व कोई असंभव तत्त्व नहीं है, प्रत्युत उसकी सत्ता संभव है। उस पर तत्त्व का याथातथ्य स्वरूप क्या है, यह अनुमान का विषय ही नहीं है। इसके लिए अनुमान का प्रयोग करना, इसकी सामर्थ्य से अपनी अनभिज्ञता प्रदर्शित करना है।

२६. श्रुति और अनुमान की परस्पर तुलना

२७. श्रुति और अनुमान का सम्बन्ध

अनुमान जिज्ञासु की यत्किञ्चित् सहायता श्रुति प्रतिपादित तत्त्व मे बुद्धि प्रवेशार्थ कर सकता है। स्वयं इसकी सामर्थ्य नहीं कि यह उस श्रौत तत्त्व को यत्किञ्चित् समझ सके। इसलिए इस अनुमान को तद्विषयक स्वतंत्र प्रमाण नहीं कहा जा सकता। श्रुति स्वामिनी है और अनुमान इसका अनुग्राहक रूप सेवक है। जिसका कर्त्तव्य श्रुति प्रतिपादित तथ्य का येन केन प्रकारेण समर्थन, अनुमोदन तथा रक्षा करना है, न कि उसका खण्डन करना। जो लोग अनुमान के बल पर श्रुति प्रतिपादित सिद्धान्तों का खण्डन करते या करना चाहते है, उन्हें अनुमान की वाङ्मनसागोचर तत्त्वविषयक सामर्थ्य तथा प्रयोजन को भली भान्ति जानना चाहिए। क्योकि अनुमान श्रुति के खण्डनार्थ नहीं है; अपितु तत्प्रतिपादित सर्वसिद्धान्तों का पञ्चावयवी वाक्य तथा तर्क द्वारा पूर्णरीत्या मण्डन के लिए है। इसी में इस प्रमाण की सार्थकता है, यह अपने स्वतंत्र बल के आधार पर श्रुति की परीक्षा नहीं कर सकता। निर्भ्रान्त, सत्यज्ञानरूप, सर्वज्ञ, ईश्वरप्रदत्त, तत्त्व का प्रतिपादक वेद (श्रुति) किसी अल्पमति मनुष्य की कुतर्क बुद्धि द्वारा रचित अनुमान से खण्डित नहीं किया जा सकता। ऐसी दशा में स्वतःसिद्ध त्रिकालाबाध्य परम तथ्य श्रुति का विरोधी होने से अनुमान स्वयं मिथ्या सिद्ध हो जाता है। जैसे किसी मृत प्राणी को देख कर यह तो अनुमान किया जा सकता है कि इसकी मृत्यु आघात

विशेष से, विषपान से, या किसी अन्य कारण से हुई है। परन्तु किसी अनुमान या हेतु द्वारा उस मृत को जीवित सिद्ध नहीं किया जा सकता। यदि ऐसा करने का यत्न किया जाय तो वह अनुमान या हेतु स्वयमेव खण्डित हो जाता है। क्योंकि अनुमान किसी अन्य प्रबल प्रमाण द्वारा निर्णीत सिद्धान्त का विरोध नहीं कर सकता। वह संभव को असंभव या असंभव को सभव सिद्ध नहीं कर सकता।

२८. स्वतंत्र तर्क की अप्रतिष्ठा

भौतिक विज्ञान मे पदार्थों के बाह्य स्वरूप के अतिरिक्त अनुमान के आधार पर जितने सिद्धान्त (Theories) उपस्थित किये जाते हैं, वे केवल संभावना मात्र होते हैं, अत एव समय समय पर परिवर्तित होते रहते हैं। और कभी २ एक ही समय भिन्न २ विद्वानों द्वारा परस्पर विरुद्ध सिद्धान्त भी उपस्थित किये जाते हैं। इसी लिए परम हितैषिणी श्रुति कहती है कि—"नैषा तर्केण मतिरापनेया" (कठ० २,६) "आगम (वेद) प्रतिपाद्य आत्मज्ञान विषयिणी बुद्धि कोरे तर्क की ऊहापोह से प्राप्त नहीं हो सकती।" "तर्का प्रतिष्ठानात्" (ब्रह्मसूत्र २,१,११.) "आगम गम्य अर्थ का केवल श्रुति निरपेक्ष तर्क से खण्डन नहीं हो सकता। क्योंकि निराधार तर्कजन्य मानवीय कल्पना की प्रतिष्ठा शक्य नहीं। क्योकि बहुत प्रयत्न से किसी एक तार्किक की तर्क से अनुमित अर्थ किसी दूसरे श्रेष्ठ तार्किक द्वारा खण्डित किया जाता है। तात्पर्य यह है कि प्रायः दो तार्किकों का परस्पर एक विषय मे मतभेद होता है। अतः पुरुषो की मति विभिन्न होने के कारण तर्क अत्यन्त अप्रतिष्ठित है। तर्क द्वारा किया गया निर्णय अबाध्य तथा अन्तिम तथ्य नहीं हो सकता। महाभारत भीष्मपर्व मे कहा गया है कि—"अचिन्त्या खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्" (५,१२) "परमात्मा, धर्म, तथा अन्य स्वर्गादि विषय मानवीय बुद्धि के नहीं हैं, अत एव अचिन्तनीय हैं। उनको श्रुति निरपेक्ष तर्क से जांचने का कदापि प्रयत्न न करे। "By love He may be begotten, by thonght never" (Rysbrook) भक्ति तथा प्रेम से ही भगवान् के दर्शन तथा उपलब्धि हो सकती है केवल विचार से कदापि नहीं।"

२९. श्रुति की अपूर्वता

लोक मे प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द आदि अनेक प्रमाणो से एक विषय का निश्चय किया जाता है। इन प्रमाणों का उपयोग निश्चय करने मे कहीं तो पृथक २ तथा कहीं २ समुच्चय रूप से किया जाता है। जैसे कहीं पर अग्नि का बोध प्रत्यक्ष से, कहीं अनुमान से तथा कहीं शब्द से होता है। ऐसे स्थलो मे जहा किसी दूसरे प्रमाण से काम चल सकता हो, किसी एक प्रमाण की अनिवार्य आवश्यकता नहीं सिद्ध होती। क्योंकि उसके बिना भी तो किसी न किसी प्रकार से दूसरे प्रमाणों से निर्वाह हो ही जाता है। परन्तु जब किसी क्षेत्र मे प्रत्यक्षादि प्रमाणों मे से किसी एक के बिना कार्य सिद्धि असम्भव हो अथवा उसके बिना विषय का बोध ही न हो सके, तब उस प्रमाण की अनिवार्य आवश्यकता तथा अनन्य हेतुता सिद्ध होती है। जैसे रूप का प्रत्यक्ष करने के लिए चक्षु की अनिवार्य आवश्यकता होती है, चक्षु के बिना रूप का प्रत्यक्ष असंभव है। इसी प्रकार शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध आदि विषयों के प्रत्यक्ष के लिए श्रोत्र, त्वक्,

रसना तथा घ्राणेन्द्रियों की अनिवार्य आवश्यकता है। उस इन्द्रिय के बिना उस विषय का बोध नहीं होता। यद्यपि रूपदर्शन से हम रस तथा स्पर्शादि का अनुमान द्वारा कुछ सामान्य बोध प्राप्त करते हैं; परन्तु यह आवश्यक नहीं कि रूपदर्शन मात्र से हमने रस, स्पर्शादि का जो आनुमानिक निश्चय किया है वह सर्वथा ठीक ही हो। घुणाक्षर न्याय से वह कभी ठीक भी हो सकता है और कभी ठीक नहीं भी हो सकता। इसलिए ऐसी परिस्थिति में वहां पर अनुमान की अनिवार्य आवश्यकता सिद्ध नहीं की जा सकती। क्योंकि रसज्ञान के लिए रसना तथा स्पर्शज्ञान के लिए त्वक् इन्द्रिय की ही अनिवार्य आवश्यकता तथा अनन्य हेतुता होती है।

जगत् के कुछ ऐसे पदार्थ हैं जिनका निश्चय प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाणों द्वारा हो सकता है। ऐसे विषयों के सम्बन्ध में आप्त विद्वानों ने लौकिक प्रत्यक्ष तथा अनुमान आदि प्रमाणों द्वारा जिन तत्त्वों का अन्वेषण किया तथा बोध प्राप्त किया है, अन्य लोग उन आप्त पुरुषों के वचन को प्रमाण मानकर शब्द प्रमाण द्वारा उन तत्त्वों का बोध प्राप्त कर सकते हैं। और इस प्रसंग में उनके वचनों की शब्द प्रमाण में गणना हो सकती है। परन्तु उनके वचनों के बिना भी कोई योग्य व्यक्ति स्वयं केवल प्रत्यक्ष अनुमानादि प्रमाणों द्वारा उस तत्त्व को, चाहे तो जान सकता है। अतः जिन पदार्थों का ज्ञान प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाणों द्वारा होना संभव है, उनके बोध के लिए शब्द प्रमाण की अनिवार्य आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। जैसे कि रूप ज्ञान के लिए चक्षु की अनिवार्य आवश्यकता होती है। चक्षु के बिना रूप का ज्ञान कदापि संभव नहीं है और रूपज्ञान के लिए रसना, त्वक् आदि अन्य बाह्य करणों की अपेक्षा भी नहीं है। इसी प्रकार शब्द प्रमाण की भी अनिवार्य आवश्यकता, अनन्य हेतुता वहीं पर होती है जहां कि प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण की सर्वथा गति न हो। जिस विषय का निर्भ्रान्त, असंदिग्ध तथा पूरी तरह ज्ञान, प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाणों से नहीं हो सकता, उसी विषय के बोध के लिए शब्द प्रमाण की अपूर्वता सिद्ध हो सकती है।

हम पहले भी सिद्ध कर चुके हैं कि अखण्ड, अद्वितीय, भूमातत्त्व (ब्रह्म), ईश्वर, जीव, पुनर्जन्म, धर्म, कर्मफल तथा स्वर्गादि विषयों के बोध के लिए प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण सर्वथा कुण्ठित और असमर्थ हैं। इसीलिए इन विषयों में प्राकृतिक धुरन्धर तथा प्रकाण्ड विद्वानों का, जो श्रुति की अपेक्षा नहीं समझते, मतभेद है। अत एव इन विषयों के वास्तविक स्वरूप ज्ञान के लिए एकमात्र निरपेक्ष भगवज्ज्ञानवेद (शब्द) ही परम प्रमाण है। यही शब्द प्रमाण का अपूर्व विषय है। इन विषयों में ही शब्द की अनन्य हेतुता, असाधारण कारणता तथा अनिवार्य आवश्यकता है। इसके बिना हमें मानव जीवन के आधारभूत ऊपर वर्णित इन परम रहस्यमय तत्त्वों के बोध से वञ्चित ही रहना पड़ता। इसके लिए हमें विनम्र तथा पूर्ण श्रद्धा विश्वासयुक्त हृदयों से उस परम कारुणिक, प्राणीमात्र के उद्धार करनेवाले, दयानिधि भगवान् का सहस्रवार धन्यवाद करना चाहिए।

३०. हेतु, तर्क, अनुमान का कार्य-क्षेत्र

हम उपर्युक्त तथ्य को दृष्टि में न रखते हुए ही केवल तर्क तथा अनुमान

के बल पर प्रत्येक तथ्य को पूर्णतया समझ लेने की बले पूर्वक प्रतिज्ञा किया करते हैं। परन्तु भौतिक विज्ञान तथा अनुमान (Reason) का कार्य-क्षेत्र केवल इन्द्रियगोचर तत्त्व तथा उनके परस्पर सम्बन्ध पर्यन्त ही सीमित है। परस्पर सम्बन्ध ज्ञान मे भी ये अधूरे ही हैं। इस क्षेत्र में भी कई प्रकार की कल्पनाओं से काम चलाना पड़ता है। यह काल्पनिक निश्चय भ्रान्त भी हो सकता है। यदि किसी अंश में निर्भ्रान्त भी हो तो भी वह तद्विषयक सामान्य निरूपण मात्र ही होता है, परन्तु उसे किसी प्रत्यक्षानुभूत तथ्य की श्रेणी में रख दिया जाता है। जैसे चुम्बक को लोहे को खींचते देखकर हम चुम्बक मे आकर्षण शक्ति का अनुमान करके उस व्यवहार का नाम शक्ति रख देते हैं। इस आकर्षण व्यवहार के कारण विशेष स्वरूप आदि का कुछ बोध नहीं होता। अनुमान तो केवल कल्पना मात्र ही है। अनुमान शब्द की निरुक्ति ही इसकी सामर्थ्य तथा कार्य क्षेत्र को स्पष्ट रूप से प्रकट कर रही है। (अनु) प्रत्यक्षादि प्रमाण परीक्षा के अनन्तर पुनः उसी को (मान) जिस प्रमाण से परीक्षित किया जाय, उसको अनुमान कहते हैं। (परीक्षितार्थः पुनर्मीयतेऽनेन मानेनेति अनुमानम्, यद्वा अनुमिनोति इत्यनुमानम्, अथवा अनुमीयतेऽनेनेत्यनुमानम्) मान-तोल-माप-बोध तदनन्तर पुनः मान-तोल, बोध अर्थात् जिसका पूर्व किसी अन्य साधन, माल, प्रत्यक्षादि प्रमाण से ज्ञान हो चुका हो उसका पुनः तर्क, हेतु, द्वारा मान, बोध करना। इसका स्थान गणित में कांटे के समान है जिसके द्वारा पूर्व प्राप्त किसी उत्तर की अभ्रान्तता निश्चित की जाती है। यह उत्तर खोजने की साक्षात् स्वतन्त्र विधि नहीं होती। तात्पर्य यह है कि अनुमान प्रमाण प्रत्यक्ष तथा शब्दादि प्रमाणों द्वारा निर्धारित तत्त्व के बोध में कुछ सहायता कर सकता है। अथवा उसी के आधार पर कुछ तत्सम्बन्धित अन्य उपलब्धि में हेतु बन सकता है। इसके अतिरिक्त इसका कार्यक्षेत्र प्रधानतया व्यक्त इन्द्रिय ग्राह्य जगत् है। मूलतत्त्व के विषय में यह कुण्ठित हो जाता है, वहां पर इसकी गति नहीं है।

चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियो के क्षेत्र में भी इसकी स्वतन्त्र प्रवृत्ति नहीं होती। क्या किसी पदार्थ के रूप का निरपेक्ष अनुमान द्वारा बोध हो सकता है ? इसका उत्तर नकारात्मक ही है। इस विवेचन से यह सिद्ध होता है कि अनुमान व्यक्त जगत् के रूप रस आदि पदार्थों के बोध का भी स्वतंत्र कारण नहीं हो सकता। बाह्य इन्द्रिय गम्य पदार्थों के सम्बन्ध के विषय में सदिग्ध, नित्य-परिणामी, कुछ कल्पना मात्र कर सकता है। मूलतत्त्व ब्रह्म, ईश्वर, जीव, परलोक तथा धर्म आदि के विषय मे भी इसकी गति नहीं है। हां ! श्रुति का सहारा लेकर श्रुति द्वारा प्रतिपादित तत्त्व की संभावना के निश्चय मात्र का हेतु हो सकता है।

३१. अखण्ड, अद्वितीय तत्त्व विषयक ज्ञानपिपासा की निवृत्ति में अनुमान की असमर्थता

ऊपर के विवेचन से हम इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि अनुमान, तर्क (Reason) आदि में पर-तत्त्व के बोध कराने की सामर्थ्य नहीं रखते। इसलिए हमारी पर-तत्त्व विषयक ज्ञानपिपासा की निवृत्ति के लिए ये पर्याप्त साधन नहीं हैं। इसमें सन्देह नहीं कि मुख्यतया केवल प्रत्यक्ष पर जीवन निर्वाह करने वाले पशुओं की अपेक्षा मनुष्य

ने इन तर्क अनुमान आदि के सहारे बहुत कुछ उन्नति की है, भौतिक विज्ञान ने अनेक आविष्कार किये हैं। मनोविज्ञान (Psychology) के अन्वेषण में पर्याप्त प्रगति की है। यह सब सराहनीय है। पाशविक इन्द्रियों की ऐहिक भोग सामग्री में भले ही इसका महत्त्व अधिक हो, परन्तु क्या इस भौतिक विज्ञान ने हमारी पारमार्थिक मनुष्योचित समस्याओं का समाधान किया है ? क्या मानव-समाज की व्यवस्था इन्हें इतना अधिक महत्त्व देने से ढीली नहीं हो गई है ? क्या भाई-भाई, माता-पिता, जाति-जाति, देश-देश आदि का नित्य नया कदापि न मिटनेवाला पारस्परिक वैमनस्य तथा कलह, किसी न्यूनता की घोषणा नहीं कर रहा ? क्या यह किसी अन्तरतम गुह्य तत्त्व के अन्वेषण की आवश्यकता की ओर संकेत नहीं कर रहा ? जिस मूल तत्त्व को भूल जाने के कारण हमारी मानवीय सभ्यता का भौतिक विशाल मन्दिर स्थान २ से जर्जरित होकर बुरी तरह से गिर रहा है। रसायन शास्त्र (Chemistry), भौतिकी (Physics), भूविद्या (Geology), जीवन विज्ञान (Biology), शरीर शास्त्र (Anatomy), चिकित्सा शास्त्र (Medicine), ज्योतिष शास्त्र (Astronomy), मनोविज्ञान (Psychlogy), आचार शास्त्र (Ethics), तर्क शास्त्र (Logic), इत्यादि विज्ञानों से निर्मित प्रासाद को किसी अखण्ड शिला के आधार की अपेक्षा है। इस संपूर्ण भौतिक विज्ञान (Physical Science) का आधार अध्यात्म (Metaphysics) है। अनुमान तो अध्यात्म के विषय में केवल कल्पना कर सकता है। वह मूल तत्त्व के साक्षात् दर्शन में निर्भ्रान्त तथा स्थिर साधन नहीं हो सकता।

१२. मूल तत्त्व सम्बन्धी अज्ञेयवाद की भ्रान्ति के कारण

यदि अनुमान के अतिरिक्त अन्य कोई विचित्र, दिव्य, शक्तिसम्पन्न साधन परतत्त्व को साक्षात्कार करने के लिए जगत् में नहीं है, अथवा साधन के होते हुए भी मनुष्य के लिए उसकी उपलब्धि इसी प्रकार असंभव है जिस प्रकार पशु के लिए वाक् शक्ति की, तो फिर परतत्त्व विषयक मानवीय पिपासा की शान्ति हो ही नहीं सकती। अनेक युरोपियन दार्शनिकों ने केवल (Reason) कोरे शुष्क तर्क के आधार पर ही मूल तत्त्व को अज्ञेय कहा है। क्योंकि वे केवल तर्क की ही शरण लेने वाले हैं। यह तो निश्चित सत्य है कि श्रुति निरपेक्ष तर्क से मूलतत्त्व अज्ञेय ही है। मूलतत्त्व सम्बन्धी अदम्य जिज्ञासा और तर्क (Reason) की इस जिज्ञासा-पूर्ति में असफलता ही इस विषय में किसी अन्य विलक्षण प्रमाण के अस्तित्व के द्योतक हैं। जैसा कि उन पर भी लिखा जा चुका है कि तर्क (Reason) और सामान्य बुद्धि (Intellect) तक ही मानवीय बुद्धि के विकास का अन्त नहीं हो जाता।

सामान्य बुद्धि (Intellect) तो पिपीलिका सदृश अति मन्द गति से किसी तत्त्व को प्रमाणित करती है। परन्तु न्यूटन तथा शंकर सरीखे प्रतिभा संपन्न (Genius) व्यक्तियों के आविष्कार यह सिद्ध करते हैं कि सामान्य बुद्धि (Intellect) को यदि बैलगाड़ी समझा जावे तो आभ्यन्तर दिव्य चक्षु (Intuition) को शक्तिशाली हवाई जहाज मानना पड़ता है। यह दिव्य आभ्यन्तर चक्षु (Intuition) किसी तत्त्व को बिना किसी क्रम के तुरन्त यूं ग्रहण करती है और ऐसे हस्तामलकवत् देखती है जैसे कि रूप को आंख।

उस दिव्य साधन को मूलतत्त्व के ग्रहण करने के लिए सामान्य बुद्धि की तरह विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता और न ही किसी प्रकार की आनुमानिक कल्पना से सहायता लेनी पड़ती है। यही कारण है कि उसमें किसी प्रकार का संदेह या भ्रान्ति का लवलेश भी नहीं होता। वह उसका सर्वथा निर्भ्रान्त तात्विक प्रत्यक्ष ही होता है। ऐसे दिव्य साधन संपन्न महापुरुष का वचनमात्र ही सर्वसाधारण जन के लिए इस विषय में प्रमाण है। मूलतत्त्व सम्बन्धी अज्ञेयवाद के निम्नलिखित दो कारण हैं:—

(क) श्रुति निरपेक्ष केवल शुष्क तर्क (Reason) बुद्धि को ही परम प्रमाण मानना। किन्तु इनकी तो मूलतत्त्व तक गति ही नहीं है। जैसे श्रोत्र इन्द्रिय की गति रूप प्रत्यक्ष में नहीं है। (विस्तृत विवेचन ऊपर हो चुका है।)

(ख) मूलतत्त्व को जड़ मानना। (व्याख्या आगे की जा रही है।)

३३. मूलतत्त्व के ज्ञान की आकांक्षा तथा श्रुति

मूलतत्त्व के ज्ञान की आकांक्षा ही हमें यह स्वीकार करने के लिए बाधित करती है कि वह मूलतत्त्व चेतन हो। यदि वह सर्वाधार, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वनियन्ता ही जड़ हो तो वह स्वयं ही अपने स्वरूप तथा अस्तित्व से अनभिज्ञ होगा। ऐसी परिस्थिति में उसकी सन्तान बुद्धि आदि तो वहां क्या पहुंच सकेंगे। चेतन मान लेने पर भी यह आकांक्षा अनिवार्य है कि वह पशुवत् मूक न हो। उसके पास वाणी हो जिसके द्वारा वह अपने स्वरूप का संकेत तो कर सके। जिस संकेत को पाकर हम उसके स्वरूप को समझकर, उसकी प्राप्ति तथा अनुभूति का साधन कर सकें, और साथ ही अपनी अनुभूति की परीक्षा भी कर सकें कि ठीक उसी मूलतत्त्व को हमने पा लिया है, जिसका कि उसने हमें अपनी वाणी द्वारा संकेत किया था।

उस चित्स्वरूप परम तत्त्व ब्रह्म की वाणी ही वेद है। इसको दूसरे शब्दों में शब्द ब्रह्म कहते हैं। यही उस परमतत्त्व ब्रह्म तथा अन्य धर्मादि में स्वतः निरपेक्ष निर्भ्रान्त एकमात्र परम प्रमाण है। "नावेदविन्मनुते त बृहन्तम्" (तै० ब्रा० ३,१२,६,७) "वेद को न जानने वाला उस सर्व जगत् के कारण, अनादि, अनन्त, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, ब्रह्म को केवल तर्क से नहीं जान सकता। क्योंकि ब्रह्म (ईश्वर) को जानने के लिए केवल वेद ही परम प्रमाण है। जैसे पिता के ज्ञान के लिए पिता अथवा माता के वचन ही प्रमाण होते हैं। इसी प्रकार ईश्वर के ज्ञान के लिए ईश्वरीय ज्ञान के भण्डार स्नेहमयी वेद माता के वचन ही प्रमाण हो सकते हैं। उसके अतिरिक्त और कोई साधन नहीं जिसके द्वारा उस परमतत्त्व भूत ईश्वर का ज्ञान हो सके। "त त्वौपनिषद पुरुष पृच्छामि" (बृ० उ० ३,६,२६) "जिज्ञासु विनम्र भाव से ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय से विनय करता है कि भगवन्! मैं उस उपनिषद् (वेदान्त) प्रतिपादित परमतत्त्व, ब्रह्म पुरुष को जानना चाहता हूं। कृपया उसके विषय में बताकर मुझे कृतार्थ करें। वास्तव में संपूर्ण वेदान्तवाक्यों (उपनिषदों) तथा वेदों का परम तात्पर्य ब्रह्म के वर्णन में ही है। ब्रह्म का पूर्णतया वर्णन अन्यत्र नहीं मिलता। यदि इस समय अन्यत्र कुछ वर्णन मिलता भी है तो उसका मूल स्रोत वेद ही है। जैसे सब प्रकार के मिष्टान्नों में मधुरता खाण्ड की ही होती है। "In the whole world there is no study except that of the originals so benificial

and so elevating as that of Upanishads It has been the solace of my life it will be the solace of my death Schopenhaur

२४. श्रुति प्रतिपादित तत्त्व की अनुभूति के साधन

जैसे ऊपर वर्णन हुआ है कि मूलतत्त्व के विषय में परम तथा अपूर्व प्रमाण श्रुति ही है, सामान्यतया भूलोकवासी मनुष्य को इसके अतिरिक्त अन्य साधन या प्रमाण से उसका बोध नहीं हो सकता। जैसे चक्षु के बिना रूप का बोध असंभव है। इस परम प्रमाणभूत श्रुति के उपयोग के लिए अनन्य श्रद्धा अत्यन्त आवश्यक तथा अनिवार्य है। परन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि हमें अन्त तक केवल अपनी अनन्य श्रद्धा से ही श्रुति प्रतिपादित तत्त्व के, श्रद्धाजन्य सामान्य परोक्ष ज्ञान पर ही निर्भर रहकर सन्तोष करना पड़ेगा। श्रुति केवल मूलतत्त्व का वर्णन ही नहीं करती प्रत्युत इसके साक्षात्कार के लिए उपयोगी साधनों का भी निरूपण करती है। इतने मात्र से श्रुति के महत्त्व मे कुछ बाधा नहीं पड़ती। यह अवस्था तो सब प्रमाणों की समान ही है। जैसे केवल चक्षु से रूप का प्रत्यक्ष नहीं होता, उसके सहकारी अन्य प्रकाशादि साधन होने ही चाहिए। हां! रूप प्रत्यक्ष मे प्रधान मुख्य कारण चक्षु ही है। परन्तु जब तक आत्मा और मन का चक्षु के साथ संयोग न हो, बाह्यालोक तथा दूर-सामीप्य आदि प्रतिबन्धकों का अभाव न हो तब तक चक्षु क्या कर सकता है? लोक मे भी यह सर्वविदित है कि जब किसी व्यक्ति से पूछा जाए कि अमुक व्यक्ति यहां तुम्हारे निकट से गया है? तो वह यह उत्तर देता है कि मेरा मन कहीं अन्यत्र संलग्न था इसलिए चक्षु खुले होने पर भी मैंने उसे जाते नहीं देखा। इस प्रकार के अनेक दृष्टान्त मिलते हैं। इसी प्रकार औपनिषद तत्त्व के साक्षात्कार के लिए अनन्य श्रद्धा के अतिरिक्त अन्य साधन भी श्रुति ने प्रतिपादित किये हैं। जिन अन्य साधनों का उल्लेख श्रुति करती है, वे इस प्रकार हैं:—१. इस लोक तथा परलोक के विषय भोगों की वासनाओं का सर्वथा त्याग। (२) वर्णाश्रमोचित विहित कर्मों के ईश्वरार्पण बुद्धि तथा निष्काम भाव से अनुष्ठान द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि। (३) भक्ति, योग, उपासनादि द्वारा स्वच्छ, स्थिर, सूक्ष्म, परतत्त्व ग्रहणोपयोगी बुद्धि। (४) तथा परतत्त्व ग्रहण के लिए अनन्य तीव्र रुचि तथा जिज्ञासा आदि आदि। इन सहकारी साधनों का यथावसर आगे सुविशद यथोचित वर्णन किया जाएगा।

जैसे रेडियो स्टेशन से भेजे गये सन्देश वायुमण्डल में सर्वत्र व्याप्त हो जाते हैं, परन्तु वे सुनाई वहीं देते हैं जहां उनको ग्रहण करने वाले यन्त्र होते हैं। इसी प्रकार श्रुति में भी सर्वत्र मूलतत्त्व का वर्णन है परन्तु उसके ग्रहण के लिए तदुपयोगी सूक्ष्म बुद्धि रूपी यन्त्र की अपेक्षा होती है। जिस प्रकार रेडियो यन्त्र प्रकृति से स्वत. पीतल, लोहे, मृत्तिका आदि के बने बनाए उत्पन्न नहीं होते अपितु उनके बनाने की कला में कुशल विज्ञ व्यक्ति द्वारा बनाए जाते हैं। इसी प्रकार सर्वसाधारण मनुष्य उत्पत्तिकाल से ही मूलतत्त्व ग्रहणोपयोगी, अत्यन्त उज्ज्वल तथा सूक्ष्म बुद्धि से सपन्न नहीं हुआ करता। उसके लिए भी महान् प्रयत्न तथा अनेक श्रौत साधनों की अपेक्षा होती है।

साधारणतया सब विद्याओं (Sciences) को प्राप्त करने का यही क्रम है। एक बालक शनैः २ बड़े प्रयत्न के पश्चात् किसी भौतिक विज्ञान के रहस्यों को समझने के

योग्य होता है। किस बालक में यह सामर्थ्य है कि वह जन्मकाल से ही ज्युमेट्री के पाइथा गोरस थ्युरम को समझ सके। गणित के किस उद्भट विद्वान् में यह सामर्थ्य है कि वह आरम्भ में ही किसी बालक को यह गणित के नियम हृदयङ्गम करा सके। ऐसे ही ब्रह्म-विद्या को समझने के लिए भी प्रत्येक मनुष्य सामान्यतया उसके लिए आवश्यक, स्थिर, स्वच्छ, सूक्ष्म बुद्धि से युक्त नहीं होता। अनन्य धैर्य से युक्त होकर, निरन्तर, दीर्घ काल तक अनवच्छिन्नधारा से महान् प्रयत्न करने पर भी पचास प्रतिशत व्यक्ति ही अपने अनुभव के आधार पर उस अतीन्द्रिय अध्यात्म तत्त्व के विषय में कुछ आस्तिकता व्यक्त कर सकते हैं। पारमार्थिक साधकों की योग्यता तथा रुचि को दृष्टि में रखते हुए शास्त्रकारों ने अनेक उपयोगी साधनों का वर्णन किया है। परन्तु सामान्य व्यक्ति केवल शास्त्र को सामने रखकर उन साधनों का आचरणात्मक उपयोग नहीं कर सकता। क्योंकि शब्द क्रिया-शिक्षण में पंगु है। इसलिए साधक किसी शास्त्रनिष्णात तथा तत्त्वनिष्ठ सुविज्ञ व्यक्ति की देख रेख में ही उन साधनों पर आचरण करके लाभ उठा सकता है। अन्यथा हानि की सम्भावना है। जन्मतः प्राप्त साधारण बुद्धि के आधार पर, या किसी अन्य भौतिक विज्ञान आदि की शिक्षा से संस्कृत बुद्धि के बल पर इस ब्रह्मविद्या को समझने का आग्रह करना उचित नहीं है। क्योंकि अध्यात्म विद्या इस प्रकार की सामान्य बुद्धि की पहुंच से बाहर है, इस लिए आध्यात्मिक तत्त्वों के मिथ्या होने की निश्चयात्मक अथवा संदिग्ध घोषणा कर देना किसी उदारधी, दूरदर्शी तथा सूक्ष्म बुद्धि वाले व्यक्ति का कार्य नहीं है। क्या कोई रसायन शास्त्र का दक्ष वैज्ञानिक, केवल अपने रसायन शास्त्र ज्ञान के आधार पर जीवन विज्ञान के सूक्ष्म सिद्धान्तों को भ्रान्त कहने का दुःसाहस कर सकता है? इसी प्रकार क्या हम आध्यात्मिक विद्या के साथ ऐसा अयोग्य व्यवहार करके अपना महत्तम अनिष्ट नहीं कर रहे हैं? हमें इस विषय में पक्षपात छोड़ कर गम्भीरता पूर्वक विचार करने की आवश्यकता है। तभी तत्त्वज्ञान की ओर ले जाने वाली जिज्ञासा तथा मति की उपज हो सकेगी।

२५. श्रुति और प्रत्यक्ष का विषय भेद

भारतवासियों के हृदयों में भी आजकल वेद आदि सच्छास्त्रों के प्रति जो अश्रद्धा तथा अविश्वास और तर्क अनुमान (तथा Reasoning) में प्रबल रुचि और आस्था दृष्टि गोचर हो रहे हैं उन का मूल कारण पाश्चात्य सभ्यता तथा तर्क-प्रधान दार्शनिक विचारों का प्रभाव है। पाश्चात्य लोगों को अपने बाईबल अञ्जील आदि पवित्र धार्मिक ग्रन्थों मे अविश्वास का एक मुख्य कारण यह है कि उन के इन ग्रन्थों में सांसारिक पदार्थों का जो वर्णन आता है वह नवीन विज्ञान की दृष्टि से सत्य सिद्ध नहीं होता और कई स्थलों में सर्वथा विपरीत प्रमाणित होता है। जैसे पृथ्वी को चपटा, ईश्वर को सातवें आकाश पर रहने वाला बताना इत्यादि।

जब अभी वैज्ञानिक आविष्कारों का प्रादुर्भाव हो ही रहा था। उन दिनों बात सच्ची होने पर भी बाईबल का विरोध करना साधारण बात नहीं थी। क्योंकि चर्च के ईसाई पादरियों, पोपों का प्रभुत्व इतना अधिक था कि तत्कालीन राजा महाराजा भी उन से भय खाते थे। पोपों का आदेश राजाओं को भी मानना पड़ता था। उस काल में बाइबल

and so elevating as that of Upanishads. It has been the solace of my life it will be the solace of my death. Schopenhaur.

२४. श्रुति प्रतिपादित तत्त्व की अनुभूति के साधन

जैसे ऊपर वर्णन हुआ है कि मूलतत्त्व के विषय में परम तथा अपूर्व प्रमाण श्रुति ही है, सामान्यतया भूलोकवासी मनुष्य को इसके अतिरिक्त अन्य साधन या प्रमाण से उसका बोध नहीं हो सकता। जैसे चक्षु के विना रूप का बोध असंभव है। इस परम प्रमाणभूत श्रुति के उपयोग के लिए अनन्य श्रद्धा अत्यन्त आवश्यक तथा अनिवार्य है। परन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि हमें अन्त तक केवल अपनी अनन्य श्रद्धा से ही श्रुति प्रतिपादित तत्त्व के, श्रद्धाजन्य सामान्य परोक्ष ज्ञान पर ही निर्भर रहकर सन्तोष करना पड़ेगा। श्रुति केवल मूलतत्त्व का वर्णन ही नहीं करती प्रत्युत इसके साक्षात्कार के लिए उपयोगी साधनों का भी निरूपण करती है। इतने मात्र से श्रुति के महत्त्व में कुछ बाधा नहीं पड़ती। यह अवस्था तो सब प्रमाणों की समान ही है। जैसे केवल चक्षु से रूप का प्रत्यक्ष नहीं होता; उसके सहकारी अन्य प्रकाशादि साधन होने ही चाहिएं। हां! रूप प्रत्यक्ष में प्रधान मुख्य कारण चक्षु ही है। परन्तु जब तक आत्मा और मन का चक्षु के साथ संयोग न हो, बाह्यालोक तथा दूर-सामीप्य आदि प्रतिबंधकों का अभाव न हो तब तक चक्षु क्या कर सकता है? लोक में भी यह सर्वविदित है कि जब किसी व्यक्ति से पूछा जाए कि अमुक व्यक्ति यहां तुम्हारे निकट से गया है? तो वह यह उत्तर देता है कि मेरा मन कहीं अन्यत्र संलग्न था इसलिए चक्षु खुले होने पर भी मैंने उसे जाते नहीं देखा। इस प्रकार के अनेक दृष्टान्त मिलते हैं। इसी प्रकार औपनिषद् तत्त्व के साक्षात्कार के लिए अनन्य श्रद्धा के अतिरिक्त अन्य साधन भी श्रुति ने प्रतिपादित किये हैं। जिन अन्य साधनों का उल्लेख श्रुति करती है, वे इस प्रकार हैं:—१. इस लोक तथा परलोक के विषय भोगों की वासनाओं का सर्वथा त्याग। (२) वर्णाश्रमोचित विहित कर्मों के ईश्वरार्पण बुद्धि तथा निष्काम भाव से अनुष्ठान द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि (३) भक्ति, योग, उपासनादि द्वारा स्वच्छ, स्थिर, सूक्ष्म, परतत्त्व ग्रहणोपयोगी (४) तथा परतत्त्व ग्रहण के लिए अनन्य तीव्र रुचि तथा जिज्ञासा आदि

तत्त्व का स्वरूप, फल, साधन उपपत्ति आदि सहित निरूपण करती है। आजकल की उच्च सभ्यताभिमानी जाति का कोई बालक शिक्षा ग्रहण किये बिना बोल चाल भी नहीं सकता। अतः शिक्षक की अनिवार्य आवश्यकता सर्वसम्मत है। इस शिक्षक (गुरु) क्रम की परम्परा का आरम्भ किसी अचिन्त्य शक्ति तथा अनन्त ज्ञान सम्पन्न पुरुष से ही मानना पड़ता है। ऐसी अचिन्त्य तथा अनन्त शक्ति की वाणी ही वेद है। पूर्व सर्गकृत शुभ कर्म तथा उपासनादि से संस्कृत बुद्धि सम्पन्न ऋषियों ने इसी वेद का इस सृष्टि के प्रारम्भ में प्रत्यक्ष अनुभव किया। साथ ही वेद प्रतिपादित तत्त्वों को हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष देखा। इसलिए केवल भौतिक विज्ञान तथा सामान्य तर्क के आधार पर ऐसे तत्त्व की अवहेलना करना उचित नहीं।

भौतिक विज्ञान सामान्य प्रत्यक्ष, चक्षु आदि बाह्य करणों तथा तत्सहकारी यन्त्रों पर अवलम्बित है, और इसमें सामान्य बुद्धि का भी सहारा लिया जाता है। परन्तु श्रुति प्रतिपादित तत्त्व इनकी पहुंच से अत्यन्त परे है। सामान्य बुद्धि अन्य करणों द्वारा अनुभूत पदार्थों में सम्बन्ध आदि की विवेचना मात्र कर सकती है। यह अन्य करण के गम्य किसी तत्त्व के स्वतन्त्र अनुभव में सर्वथा असमर्थ है। ऐसी अवस्था में अन्य बाह्य करणों से अगम्य इस भूमातत्त्व के विषय में स्वतन्त्र रूप से प्रवृत्त होने का दुःसाहस यह कैसे कर सकती है। परन्तु इस शताब्दि में ज्ञानाभिमानी मानव जाति इस सामान्य रहस्य को समझने में असमर्थ है, और कोरे तर्क के आधार पर परतत्त्व के विषय में निश्चय करने के प्रयत्न के कारण नास्तिक बन गई है। भौतिक विज्ञान तथा सामान्य तर्क प्रधान मानवीय बुद्धि की परिमित सामर्थ्य पर दृष्टि न देने का ही यह दुष्परिणाम है कि हरेक व्यक्ति केवल इस सामान्य बुद्धि के बलबूते पर अध्यात्म विद्या के गूढ़ रहस्यों को समझने तथा समझाने की चेष्टा करने लगा है। इस प्रकार अवश्यंभावी अनिवार्य रूप से असफल होने पर ईश्वर, जीव, परलोक, कर्मफल आदि के विषय में नास्तिकता धारण कर लेता है और फिर ऐहिक भोगों को लक्ष्य बना लेता है। और येन केन प्रकारेण इस भोग लालसा की तृप्ति के यत्न में ही अपनी बुद्धि तथा पुरुषार्थ की कृतकृत्यता मान बैठता है। पाश्चात्य सभ्यता तथा विचार से प्रभावित हृदयवाला व्यक्ति यदि सामान्य प्रत्यक्ष के आधार पर साधारण न्याययुक्त आचरण को भी धारण कर ले, अथवा इन्द्रिय-विषयभोग के दुष्परिणाम के सामान्य ज्ञान से या अभिमानवश इन्द्रिय-विजय का भी भले यत्न करे, परन्तु अपने सामान्य अनुभव के आधार पर उस परतत्त्व में नास्तिकता के कारण उस परम इष्ट से तो सर्वथा वञ्चित ही रहता है। इसलिए मनुष्य का परम हित इसी में है कि वह वेद तथा ऋषि मुनियों के विचारों की अवहेलना न करे।

भौतिक विज्ञान अपने कार्य-क्षेत्र में स्वतन्त्र है, परन्तु परलोक आदि के विषय में वह नितान्त असमर्थ है। मनुष्य की बुद्धि के तारतम्य के कारण तर्क भी अप्रतिष्ठित है। इसलिए यह सेवक है, वेद इसका स्वामी है। अतः यह वेद प्रदर्शित मार्ग में ही चल सकता है। श्रुति के सिद्धान्त को मानवीय बुद्धि के ग्राह्य बनाने में तथा तत्सम्बन्धी असम्भावना दोष की निवृत्ति में ही इसका सदुपयोग है।

के विरुद्ध विचार रखने वालों पर अत्यन्त क्रूर तथा रोमाञ्चकारी अत्याचार किये गये। कइयों को जीवित अग्नि में जला दिया गया। कइयों के साथ अन्य घृणित अमानुषिक व्यवहार किये गये।

जब बाइबल में प्रत्यक्ष तथा अनुमान सिद्ध बातों का भी विरोधी वर्णन पाया गया, तब इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि बुद्धिमानों को बाइबल में श्रद्धा तथा विश्वास नहीं रहा। कोई भी पवित्र धार्मिक ग्रन्थ चाहे वह वेद हो या बाइबल, भौतिक पदार्थों के स्वतः सिद्ध स्वाभाविक गुण आदि विषयक तथ्यों में परिवर्तन नहीं कर सकता जैसे अग्नि का स्वतः सिद्ध स्वाभाविक गुण उष्णता तथा प्रकाश है। यदि वेद में ऐसा कथन हो कि अग्नि ठण्डी तथा अन्धकार मय है तो यह कथन मानवी बुद्धि को स्वीकृत नहीं हो सकता। यदि वे ऐसी अनधिकार चेष्टा करें तो वे स्वयं ही अप्रमाणित हो जायेंगे।

वस्तुतः प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण के विषयों का ज्ञान प्राणिमात्र को बिना शिक्षा आदि के भी होता है। श्रुति का विषय इन प्रमाणों के विषयों से सर्वथा भिन्न तथा अपूर्व है। जैसे ऊपर श्रुति के प्रतिपाद्य विषय शीर्षक के अन्तर्गत वर्णन किया गया है। हां, यदि श्रुति में कहीं पर प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध पदार्थों का वर्णन आता है तो उसका तात्पर्य केवल अनुवाद मात्र में है न कि प्रमाणरूपेण। अतः प्रत्यक्ष, अनुमान तथा वेद का स्वतन्त्र कार्यक्षेत्र भिन्न २ है। वेद के अलौकिक कार्यक्षेत्र में अनुमान आदि सहायक होने से अनुग्राहक मात्र हैं। और वेद में अपने परम तात्पर्य के साधनभूत किसी लौकिक प्रमाणजन्य ज्ञान का वर्णन केवल अनुवाद मात्र है।

प्रमाणों के परस्पर सम्बन्ध प्रायः चतुर्विध होते हैं। (१) प्राणप्रद, (२) उपजीव्य, (३) अनुग्राहक और (४) पार्षद। अनुमान का श्रुति के साथ अनुग्राहक (सहायक) तथा पार्षद (सेवक) का द्विविध सम्बन्ध है। इन सब सम्बन्धों का विस्तृत वर्णन करने की यहां आवश्यकता नहीं है।

३६. प्रमाण निष्कर्ष

उपर्युक्त ऊहापोहात्मक विवेचन से हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि त्रिविध दुःख का अत्यन्तोच्छेद तथा अखण्ड अद्वयानन्द की नित्य प्राप्ति रूप प्राणिमात्र की स्वाभाविक इच्छा तथा लक्ष्य में सब मतों का ऐक्य है। इसमें किसी को कोई आक्षेप करने का अवकाश नहीं है। परन्तु ऐसे विलक्षण तत्त्व की उपलब्धि में बाह्य इन्द्रियां तथा तर्क वितर्क वाली सामान्य बुद्धि सर्वथा असमर्थ हैं, इस विषय में उन लोगों के शोक, मोह ग्रस्त, अप्रमेय चिन्ता तथा अपूर्णतायुक्त दुःखमय जीवन ही ज्वलन्त प्रमाण हैं। ये लोग इन सामान्य इन्द्रियों आदि करणों के उपयोग में अपने आप को अत्यन्त विचक्षण मानते हैं और उन उन करणों द्वारा जो जो भोग सामग्री प्राप्त की जा सकती है, उस सर्वविध सामग्री से वे सम्पन्न हैं। परन्तु इतने पर भी वास्तविक शान्ति तथा सुख उनसे कोसों दूर है। नित्य नये २ दुःखों तथा तृष्णा का आघात पर आघात उन पर पड़ता रहता है।

लौकिक बुद्धि के अगोचर होने से ही ऐसे विलक्षण तत्त्व का न होना प्रमाणित नहीं हो जाता। क्योंकि श्रुति ऐसे अखण्ड, भूमा, अद्वितीय, अनादि, अनन्त, सच्चिदानन्द

तत्त्व का स्वरूप, फल, साधन उपपत्ति आदि सहित निरूपण करती है। आजकल की उन्न सभ्यताभिमानी जाति का कोई बालक शिक्षा ग्रहण किये विना बोल चाल भी नहीं सकता। अतः शिक्षक की अनिवार्य आवश्यकता सर्वसम्मत है। इस शिक्षक (गुरु) क्रम की परम्परा का आरम्भ किसी अचिन्त्य शक्ति तथा अनन्त ज्ञान सम्पन्न पुरुष से ही मानना पड़ता है। ऐसी अचिन्त्य तथा अनन्त शक्ति की वाणी ही वेद है। पूर्व सर्गकृत शुभ कर्म तथा उपासनादि से संस्कृत बुद्धि सम्पन्न ऋषियों ने इसी वेद का इस सृष्टि के प्रारम्भ में प्रत्यक्ष अनुभव किया। साथ ही वेद प्रतिपादित तत्त्वों को हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष देखा। इसलिए केवल भौतिक विज्ञान तथा सामान्य तर्क के आधार पर ऐसे तत्त्व की अवहेलना करना उचित नहीं।

भौतिक विज्ञान सामान्य प्रत्यक्ष, चक्षु आदि बाह्य करणों तथा तत्सहकारी यन्त्रों पर अवलम्बित है, और इसमें सामान्य बुद्धि का भी सहारा लिया जाता है। परन्तु श्रुति प्रतिपादित तत्त्व इनकी पहुंच से अत्यन्त परे है। सामान्य बुद्धि अन्य करणों द्वारा अनुभूत पदार्थों में सम्बन्ध आदि की विवेचना मात्र कर सकती है। यह अन्य करण के गम्य किसी तत्त्व के स्वतन्त्र अनुभव में सर्वथा असमर्थ है। ऐसी अवस्था में अन्य बाह्य करणों से अगम्य इस भूमातत्त्व के विषय में स्वतन्त्र रूप से प्रवृत्त होने का दुःसाहस यह कैसे कर सकती है। परन्तु इस शताब्दि में ज्ञानाभिमानी मानव जाति इस सामान्य रहस्य को समझने में असमर्थ है, और कोरे तर्क के आधार पर परतत्त्व के विषय में निश्चय करने के प्रयत्न के कारण नास्तिक बन गई है। भौतिक विज्ञान तथा सामान्य तर्क प्रधान मानवीय बुद्धि की परिमित सामर्थ्य पर दृष्टि न देने का ही यह दुष्परिणाम है कि हरेक व्यक्ति केवल इस सामान्य बुद्धि के बलबूते पर अध्यात्म विद्या के गूढ़ रहस्यों को समझने तथा समझाने की चेष्टा करने लगा है। इस प्रकार अवश्यंभावी अनिवार्य रूप से असफल होने पर ईश्वर, जीव, परलोक, कर्मफल आदि के विषय में नास्तिकता धारण कर लेता है और फिर ऐहिक भोगों को लक्ष्य बना लेता है। और येन केन प्रकारेण इस भोग लालसा की तृप्ति के यत्न में ही अपनी बुद्धि तथा पुरुषार्थ की कृतकृत्यता मान बैठता है। पाश्चात्य सभ्यता तथा विचार से प्रभावित हृदयवाला व्यक्ति यदि सामान्य प्रत्यक्ष के आधार पर साधारण न्याययुक्त आचरण को भी धारण कर ले, अथवा इन्द्रिय-विषयभोग के दुष्परिणाम के सामान्य ज्ञान से या अभिमानवश इन्द्रिय-विजय का भी भले यत्न करे, परन्तु अपने सामान्य अनुभव के आधार पर उस परतत्त्व में नास्तिकता के कारण उस परम इष्ट से तो सर्वथा वञ्चित ही रहता है। इसलिए मनुष्य का परम हित इसी में है कि वह वेद तथा ऋषि मुनियों के विचारों की अवहेलना न करे।

भौतिक विज्ञान अपने कार्य-क्षेत्र में स्वतन्त्र है, परन्तु परलोक आदि के विषय में वह नितान्त असमर्थ है। मनुष्य की बुद्धि के तारतम्य के कारण तर्क भी अप्रतिष्ठित है। इसलिए यह सेवक है, वेद इसका स्वामी है। अतः यह वेद प्रदर्शित मार्ग में ही चल सकता है। श्रुति के सिद्धान्त को मानवीय बुद्धि के ग्राह्य बनाने में तथा तत्सम्बन्धी असम्भावना दोष की निवृत्ति में ही इसका सदुपयोग है।

वेद तथा ऋषि मुनि हमारी बुद्धि को ताला नहीं लगा देना चाहते। उनका आदेश है कि जिज्ञासु को धैर्य रखना चाहिए, भौतिक विज्ञान के सिद्धान्त के अनुसार ही उनके प्रदर्शित पथ पर चलते हुए अपनी बुद्धि को परिमार्जित तथा संस्कृत करना चाहिए। इस प्रकार करता हुआ जिज्ञासु इस वाङ्मनसागोचर रहस्य को स्वयं अनुभव करेगा। तभी वह अपने आप यह निर्धारित करने के योग्य हो जायेगा कि अध्यात्म क्षेत्र में भौतिक विज्ञान तथा कोरे तर्क की प्रधानता कितनी निर्मूल तथा भ्रान्त है।

दूसरा अध्याय समाप्त।

तीसरा अध्याय

गुरु

१. गुरु की आवश्यकता

पूर्व के अध्यायों में यह सिद्ध हो चुका है कि मानव की एकमात्र परम आकांक्षा यही है कि उसे अद्वितीय, एक रस, आनन्द की प्राप्ति हो। इस प्रकार के अखण्ड, अद्वितीय, सच्चिदानन्द स्वरूप भूमातत्त्व की उपलब्धि का निरपेक्ष मुख्य तथा अपूर्व प्रमाण श्रुति ही है। इस विषय में परम पावनी भगवती श्रुति भी घोषणा कर रही है कि:—"आत्मा वारे द्रष्टव्य श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य" बृ० ४,५,६ अर्थात् आत्म-दर्शन के लिए प्रथम उपाय गुरु मुख से श्रुति का श्रवण है। स्वतः अध्ययन मात्र नहीं है। यद्यपि अध्ययन का तात्पर्य भी (स्वध्यायोऽध्येतव्य) गुरु द्वारा अध्ययन ही है। परन्तु उपनिषद् आदि वेदान्तों के श्रवण का अभिप्राय बाजार से या इधर उधर से उपनिषदादि को खरीद कर पढ़ लेना नहीं है। वास्तव में अध्ययन अथवा श्रवण का एक यही तात्पर्य है कि श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु द्वारा श्रुति का श्रवण या अध्ययन किया जाय। अन्यथा श्रुति भ्रान्ति को निवारण नहीं कर सकती प्रत्युत संशय तथा भ्रान्ति की ग्रन्थि को और भी दृढ़ कर देती है।

जिस प्रकार कोरा तर्क उस अमृतमय तत्त्व तक नहीं पहुंचा सकता उलटा उसका खण्डन तथा विरोध करता हुआ नास्तिकता की दृढ़ता का 'हेतु ही बन जाता है, वैसा ही गुरु रहित श्रुति अध्ययन द्वारा भी मनुष्य परम तत्त्व को नहीं पा सकता। क्योंकि गुरु-रहित श्रुति एक भयानक वन जाती है। केवल अपने ही पुरुषार्थ के आधार पर पारमार्थिक पथिक निःसहाय शिशु की तरह पथभ्रष्ट हो जाता है। इस के फल स्वरूप वह मृत्यु, नाश तथा अधोगति को प्राप्त होता है।

जिस प्रकार केवल केश श्वेत हो जाने पर ही कोई वृद्ध नहीं हो जाता "वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम्" इस स्मृति वाक्य के अनुसार वृद्ध वही होता है जो धर्म परायण हो इसी प्रकार केवल प्राकृत उच्च कोटि की विद्या से किसी की बुद्धि, स्वतः, स्वतन्त्रतया, बिना गुरु परम्परा के श्रौत विषय में प्रवेश करने योग्य नहीं हो जाती। उलटा इस शिक्षा से तो दृश्यमान भौतिक जगत् की सार्थकता, सुन्दरता तथा उपयोगिता की दृष्टि स्थिर तथा विशाल हो जाती है और प्रकृति की स्वतन्त्र सामर्थ्य का भूत सिर पर सवार होकर परम तत्त्व (Reality) विषयक विपरीत भावना को दृढ़ कर देता है जो इस मार्ग में प्रतिबन्धक बन जाता है। इस लिए पथ प्रदर्शक का अभाव मनुष्य के लिए विनाश का हेतु हो जाता है।

२. गुरुविषयक शास्त्रप्रमाण

छान्दोग्य उपनिषद् में एक सुन्दर दृष्टान्त द्वारा गुरु की आवश्यकता के महत्त्व को विशद रूप से वर्णन किया गया है, जो इस प्रकार है।

एक धनी का धन चोरों ने लूट लिया और उसकी आंखें बांधकर साथ ले गये। जब ग्राम से बहुत दूर निकल गये तो उसे मार्ग से एक ओर हटाकर एक घने निर्जन वन में हाथ पांव बांधकर छोड़ दिया और अपने आप मनोवाञ्छित मार्ग पर चले गये। वह बेचारा धनी आर्त-स्वर से क्रन्दन कर रहा था। दैववश कोई दयालु सुविज्ञ पुरुष उस ओर आ निकला। उसने धनी के दैन्यपूर्ण आर्त क्रन्दन को सुनकर अहेतुकी करुणा वश उसके आंखों, हाथों तथा पांवों के बन्धन खोल दिये और उसे उसके ग्राम का सुनिश्चित मार्ग बता दिया तथा मार्ग में आनेवाले चिन्ह आदि का भी निर्देश कर दिया। साथ ही और भी आवश्यक बातें बता दीं ताकि पुनः कोई उसे मार्गभ्रष्ट न कर सके। वह मेधावी धनिक इस प्रकार उस दयालु पुरुष से निर्दिष्ट किया गया एक ग्राम से दूसरे ग्राम को पूछता हुआ सकुशल अपने ग्राम पहुंच गया। इसी प्रकार "आचार्यवान् पुरुषो वेद" (छान्दोग्य ६,१४,२) आचार्यवान् पुरुष ही परतत्त्व को जानता है। भावार्थ यह है कि पुण्य-पापरूप तस्करों ने जीव को अपने सच्चिदानन्द धाम से पृथक् करके उसे देह तथा संसार रूपी महा अरण्य में फेंक दिया है। उसको पुरुष प्रकृति विवेक रूपी आंखों पर विषय-वासनाओं की पट्टी बांध दी है। राग, द्वेष तथा मोह रूपी रस्सियों से इसके हाथ पैर बांध दिये हैं। वाञ्छित तथा प्रिय व्यक्ति तथा द्रव्यों के वियोग तथा अभाव, और दुःखदायक तथा अवाञ्छित द्रव्यों तथा व्यक्तियों के संयोग से होने वाले दुःखों से यह जीव दुःखी होता रहता है। जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि आदि विविध सन्तापों से सन्तप्त हृदय होकर अत्यन्त आर्त-स्वर से क्रन्दन करता रहता है। अनन्त काल से जन्म मृत्यु वाले इस संसारचक्र में भटकता हुआ, अनन्त, शोक मोह ग्रस्त यह जीव अपने कोटि कोटि जन्मों की पुण्य राशि के प्रताप से किसी परम कारुणिक अहेतुकी दया करने वाले श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु को प्राप्त होता है। तब वह कृपालु इसको पुनः परम सुख-धाम रूप निज स्वरूपोपलब्धि का साधन क्रम रूपी मार्ग विस्तार से दिखा देता है। जिससे वह स्थूल देह आदि के सुदृढ़ बन्धनों को मोचन करता हुआ अन्ततः अपने उसी परम आनन्द रूपी स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार गुरु महिमा विषयक अनेक अन्य प्रमाण भी मिलते हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद् में आया है—"यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः।" (६,२३) जिस मुमुक्षु की सर्वान्तर्यामी देवाधिदेव परमेश्वर में अनन्य श्रद्धा, विश्वास तथा भक्ति होती है, और जैसी श्रद्धा ईश्वर में है वैसी ही परमार्थ श्रौत-पथ प्रदर्शक गुरु में भी होती है और उसके आदेशानुसार जो आचरण करता है, उसी महात्मना, पुण्यशील, भाग्यवान् जिज्ञासु को गुरु द्वारा उपदिष्ट श्रौत परमतत्त्व का साक्षात् अपरोक्ष अनुभव होता है। इस प्रकार श्रद्धा सम्पन्न जिज्ञासु से इतर, अन्य को कदापि वह अनुभव नहीं हो सकता। "प्रणतिब्रह्मचर्योपसर्पणानि कृत्वा सिद्धिर्बहुकालात् तद्वत्" (सांख्यदर्शन ४,१९) "इन्द्र के समान नम्रता, ब्रह्मचर्य तथा गुरुचरणों में समर्पण पूर्वक चिरकाल तक निवास करने से ही परम सिद्धि मिल सकती है, अन्यथा नहीं। देवराज इन्द्र के एक सौ एक वर्ष ब्रह्मचर्यपूर्वक निवास आदि का वृत्तान्त छान्दोग्य उपनिषद् के ८ वें प्रपाठक से आरम्भ होकर उपनिषद् की समाप्ति पर्यन्त वर्णित है। विस्तार भय से यहां पर उसका उल्लेख नहीं किया गया। जिन को रुचि हों वे उस स्थल से देख लें।

"यथा खनन् खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति ।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति ॥" मनु २,२१८.

"जिस प्रकार मनुष्य फावड़े से पृथ्वी को खोदता हुआ जल को पाता है; उसी प्रकार सेवा करने वाला शिष्य गुरु की विद्या को गुरु से प्राप्त कर लेता है।"

"तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥" गीता. ४,३४

"हे अर्जुन यदि तुम उस परम तत्त्व को जानना चाहते हो, तो तत्त्व दर्शी ब्रह्म-ज्ञानियो के चरणों मे जाकर निवास करो। पूर्णतया अपने आपको उन्हें सौंप दो। समर्पण, नमस्कार तथा सेवा करते हुए तथा उन के आदेश का पूर्ण रूप से पालन कर के उनको प्रसन्न करो। जब तक तुम्हारी बुद्धि मे उस परम तत्त्व का बोध सम्यक्तया न हो जाय तब तक समय समय पर अनन्य नम्र भाव से विवेक पुरस्सर उन से प्रश्न करो। ऐसा आचरण करने से वे परम कारुणिक तुम्हें उस अखण्ड अद्वितीय परम तत्त्व का साक्षात् अनुभव करा देंगे, जिस का मैंने तुम्हारे सामने पूर्व श्लोक मे वर्णन किया है।"

"कुशलानुशिष्टः" (कठोपनिषद् २,७) कोई विरला भाग्यवान् जिज्ञासु निपुण आचार्य से ब्रह्म-विद्या विषयक शिक्षा प्राप्त कर कृत कृत्य होता है।"

"अथ योगानुशासनम्" (योगदर्शन १,१) पतञ्जलि ऋषि कहते हैं कि गुरु परम्परा से प्राप्त योग विद्या के प्रतिपादन करने वाले शास्त्र को मैं आरम्भ करता हूं।"

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत" (कठोपनिषद् ३,१४)

(१) "अनादि अज्ञान की निद्रा मे अनन्त काल से सोये हुए मनुष्यो! उठो, जागो, श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्यों की शरण मे जाओ। उनके आदेशों के अनुसार आचरण कर के इस तमोमयी आत्म-अज्ञान रूपी निद्रा को दूर कर के परम तत्त्व मे जाग जाओ। आचार्य से ग्रहण की गई ब्रह्म विद्या ही सफल होती है। अपने आप किये गये स्वतन्त्र उच्छृङ्खल प्रयत्नों से ब्रह्म-विद्या की प्राप्ति सर्वथा असंभव है।" "आचार्याद्ध्येव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयति" (छान्दोग्य ४,६,३) आचार्य से उपदिष्ट ब्रह्म-विद्या ही इष्ट सिद्धिप्रद होती है।" उद्धृत शास्त्र वचनों से यही सिद्ध होता है कि ब्रह्म-विद्या ही एक वह निरपेक्ष अन्तरतम साधन है जिस से मनुष्य त्रिविध दुःखों का अत्यन्तोच्छेद कर के नित्य एक रस सच्चिदानन्द स्वरूप परम सुख को प्राप्त कर सकता है। यह ब्रह्म-विद्या कृपालु श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के द्वारा प्राप्त होने पर ही अत्यन्त निःश्रेयस का हेतु होती है। इसलिए जिज्ञासु के लिए गुरु की अत्यन्त आवश्यकता है।

३. गुरु अनावश्यक है (पूर्वपक्ष)

नीचे कुछ ऐसे शास्त्र वाक्य उद्धृत किये जाते हैं जिन का कुछ लोग इस प्रकार का अभिप्राय ग्रहण करते हैं कि मानों ये वचन गुरुकी आवश्यकता के विरोधी हों।

"समुद्धरति चात्मानमात्मनैवाशुभाशयात् ।
आत्मनो गुरुरात्मैव पुरुषस्य विशेषतः ॥" भागवत स्कन्ध ११

'विशेष रूप में पुरुष अपना गुरु आप ही है क्यों कि वह अपने आप ही अपने आत्मा से अपने आप को अशुभ संस्कार सञ्चय से बचाता है।"

"उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥" (गीता ६, ५)

"आत्मा द्वारा मनुष्य आत्मा का उद्धार करे, आत्मा का अध पतन न करे। आत्मा ही आत्मा का बन्धु और आत्मा ही आत्मा का शत्रु है।"

"गर्भ एवैतच्छयानो वामदेव एवमुवाच" (ऐतरेयो० ४,५) "गर्भ में सोते हुए वामदेव ने यह कहा है कि मुझे पूर्ण तत्त्व का साक्षात्कार यहीं गर्भ में ही हो गया है।"

४. ऊपर के पूर्वपक्ष का समाधान

(क) ये उद्धृत वचन अत्यन्त शुद्ध अन्त.करण वालों के हैं।

(ख) साधक को केवल गुरु के आश्रय पर ही नहीं रहना चाहिए।

(ग) जड भरत तथा वामदेव के ज्ञान का हेतु पूर्व जन्म कृत साधनो का फल है। लक्ष्य पूर्ति के लिए गुरु अनिवार्य है।

५. गुरु सम्बन्धी भ्रान्ति

गुरु सम्बन्धी एक और विचित्र भ्रान्ति ने लोगो की आस्था, श्रद्धा तथा गुरु विश्वास को शिथिल किया है। वह यह है कि कई लोग अपने परम लक्ष्य की पूर्ति केवल गुरु धारण से ही मान लेते हैं। गुरु धारण को ही वे लोग मोक्ष का सीधा विना रुकावट का पासपोर्ट मान कर किसी अन्य साधन की फिर आवश्यकता नहीं समझते। वे यह भी नहीं सोचते कि किन लक्षणो तथा आचरणों से सम्पन्न गुरु उन के अभीष्ट ध्येय की पूर्ति में सहायक हो सकता है। और यदि किसी प्रकार उन लक्षणो वाला गुरु मिल भी जाय तो उस के बाद उन का भी कुछ कर्त्तव्य है या नहीं ?

शास्त्र में वर्णित गुरु के महत्त्व का, जिसका कि कुछ दिग्दर्शन ऊपर कराया गया है, धूर्त, पाखण्डी, गुरु वेषधारियो तथा मूढ आलसी चेलो ने बहुत दुरुपयोग किया है। चेले तो गुरु धारण मात्र से, भेंट चढाने तथा दण्डवत् प्रणाम करने से ही अपने परम ध्येय की सिद्धि मान बैठते हैं। इसी प्रकार दम्भी तथा लोभी गुरु भी कई प्रकार की गप्पों से भोले भाले मनुष्यो को ठगा करते हैं। वे अपने भक्तो को कहते हैं कि उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लेने पर एक, दो या अधिक से अधिक तीन जन्मों में उनका कल्याण हो जायगा वे परमधाम सत्य खण्ड को प्राप्त करेंगे। उनके ऐसे वचनो पर सन्देह तथा टीका टिप्पणी किये विना उन पर विश्वास रक्खें। सन्देह तथा टीका टिप्पणी करने वाला पाप का भागी तथा नरकगामी होगा। इस प्रकार की प्रवञ्चना पूर्वक बातों से अन्ध विश्वासी भक्तों को ठगा करते हैं।

शास्त्र में गुरु (आचार्य) की जहां इतनी महिमा तथा महत्त्व का वर्णन किया गया है, वहा यह कहीं नहीं कहा कि गुरु धारण मात्र से प्रयोजन सिद्धि हो जायगी। इस प्रसग में स्पष्टतया गुरु का स्वरूप, लक्षण तथा फल और साथ साथ साधक के स्वरूप, लक्षणो

तथा कर्तव्यों का विस्तृत निरूपण किया गया है। इस प्रकार शास्त्र वर्णन के अनुकूल सम्पत्ति वाले आचार्य तथा साधन सम्पन्न शिष्य के होने पर ही सिद्धि की सम्भावना हो सकती है अन्यथा नहीं। "अग्निना अग्निः समिध्यते।" (वेद) अग्नि अग्नि से प्रज्वलित होती है। जलते हुए दीपक से दूसरा बुझा हुआ दीपक जलाया जा सकता है। एक जलता हुआ दीपक अन्य सहस्रों तेल बत्ती आदि साधनों से सम्पन्न दीपकों को जला सकता है। परन्तु सहस्रों बुझे हुए दीपक किसी एक दीपक को भी जलाने में असमर्थ हैं। ठीक इसी प्रकार सर्व लक्षण सम्पन्न अधिकारी जिज्ञासु के लिए भी शास्त्रोक्त गुरु की आवश्यकता होती है। तत्त्वज्ञ गुरु जो स्वयं आत्मज्ञान की ज्योति से आलोकित है, जलते हुए दीपक के समान अन्य अधिकारी जिज्ञासु के ज्ञानाग्नि को प्रकाशित करता है तथा उसका सञ्चार करता है।

६. गुरु लक्षण

(क) प्रमाण—"आचार्यः कस्मात् ? आचारं ग्राहयत्याचिनोत्यर्थान्, आचिनोति बुद्धिमिति वा" (निरुक्त अ० १ खं० ४,१२)। "आचार्य उसको कहते हैं जो (१) स्वयं सदाचार की मूर्ति होता है। जो अपने आचरण तथा आदेश द्वारा दूसरों को आचारवान् बनाता है। जिस के स्वच्छ पवित्र जीवन से प्रभावित होकर ब्रह्मचारी, जिज्ञासु तथा अन्य साधारण जन भी अनायास सन्मार्ग पर चलने लग जाते हैं। (२) जो वेदादि शास्त्रों के वास्तविक अर्थों का अनुशीलन कर सद् विद्या का प्रचार करता है। (३) जो आचार तथा शास्त्र शिक्षा द्वारा बुद्धि को परिमार्जित करता है। जिस के द्वारा मनुष्य वेद, शास्त्र तथा ईश्वर के शासन में चलकर परम लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है।

(ख) "आचिनोति हि शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि।
स्वयमाचरते यस्मादाचार्यः परिकीर्त्यते॥" वायुपुराण

"जो शास्त्र तात्पर्य का निश्चय करता है, स्वयं शास्त्रानुकूल आचरण करता है, तथा शिष्यों से आचरण कराता है। वही आचार्य कहा गया है।"

(ग) प्रज्ञां ददाति चाचार्यस्तस्मात् स गुरुरुच्यते।"

"पारमार्थिक विषय ग्रहण कराने के योग्य निर्भ्रान्त बुद्धि को प्रदान करता है इसी हेतु से आचार्य को गुरु कहते हैं।"

(घ) "आचार्यस्तु ऊहापोहग्रहणधारणशमदमदयानुग्रहादिसम्पन्नो लब्धागमो दृष्टादृष्टभोगेषु अनासक्तः त्यक्तसर्वकर्मसाधनो ब्रह्मवित् ब्रह्मणिस्थितो ऽभिन्नवृत्तो दम्भदर्पकुहकशाठ्यमायामात्सर्यानृताहंकारममत्वादिदोषवर्जितः केवलपरानुग्रहप्रयोजनो विद्योपयोगार्थी" (उपदेश साहस्री १,६)

आचार्य उसी को समझना चाहिए जिस में निम्नाङ्कित गुणसम्पत्ति अवश्य विद्यमान हो:—

पूर्व तथा उत्तर पक्षों की कल्पना करके युक्तियों प्रतियुक्तियों द्वारा निर्णीत श्रुति के चरम सिद्धान्तों को शिष्य की बुद्धि में दृढतापूर्वक स्थापन करने में समर्थ हो, एवं शम,

दम, दया, अनुग्रह आदि गुणों से सम्पन्न हो, ऐहिक तथा पारलौकिक विषय भोगों में अनासक्त चित्त वाला हो, आगम के तत्त्व को भली भाँति जानता हो, ब्रह्मवित् ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय हो, जो सदाचार की मर्यादा का कदापि भी उल्लङ्घन करने वाला न हो, दम्भ, दर्प, वञ्चना, निष्ठुरता, कुटिलता, मद, मात्सर्य, असत्यभाषण तथा अहंकार आदि दोषों से नितरां रहित हो, केवल परानुग्रह मात्र ही जिस की विद्या के उपयोग का प्रयोजन हो वही आचार्य कहलाता है" "तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्" (मुण्डकोपनिषद्-१,२,१२) "शास्त्रज्ञ होने पर भी स्वतन्त्रता पूर्वक ब्रह्मज्ञान की खोज न करे परन्तु उस शान्त, शिव, अभय, परम सुन्दर तथा नित्य तत्त्व के विशेष ज्ञान के लिए नम्र भाव से, सात्त्विकी श्रद्धायुक्त होकर, समित्पाणि, श्रुति के रहस्य को जानने वाले तथा ब्रह्मनिष्ठ (अनन्य भाव से जो ईश्वर का आश्रित है।) गुरु की शरण में जाय।"

७. ब्रह्मनिष्ठ लक्षण-विचार

आचार्य में तीन गुण विशेष रूप से होने चाहिए। ऐसा ऊपर निर्देश हो चुका है। प्रथम ब्रह्मनिष्ठ लक्षण का निरूपण करते हैं।

१. ब्रह्मनिष्ठ उसे कहते हैं जिस ने ब्रह्म (परमतत्त्व) के साक्षात् अपरोक्ष दर्शन किया हो और नित्य ब्रह्म में ही रमण करता हो। धर्म तथा तत्त्वज्ञान का प्रमाण केवल शब्द चातुर्य नहीं है। अपितु शास्त्र विरुद्ध, प्राकृत, पशुवत् जीवन के त्याग तथा शास्त्र के अनुसार आचरण द्वारा शोक, मोह की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति ही वास्तविक प्रमाण है। कोरा शब्द ज्ञान किस काम का? अग्नि शब्द के उच्चारण मात्र से शीत की निवृत्ति नहीं हो सकती। श्रद्धा और ज्ञान का फल उच्च जीवन ही है। वृक्ष सदा अपने फल से पहचाना जाता है। यदि वृक्ष का अस्तित्व मान भी लिया जाय परन्तु फल न हो तो भी उसका होना निष्फल है।

"आचाराद्धि च्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते।
आचारेण तु संयुक्तः सम्पूर्णफलभाग् भवेत् ॥" मनुः १,१०६

"आचार से पतित ब्राह्मण वेदोक्त फल से वञ्चित रहता है। आचार सम्पन्न ब्राह्मण ही श्रुति मे कहे गये फलो का उपभोग कर सकता है।"

"आचारहीनं न पुनन्तिवेदाः, यद्यप्यधीताः सह षड्भिरङ्गैः।"

"अङ्गोपाङ्ग सहित पढ़े हुए वेद भी आचारहीन विप्र को पवित्र नहीं कर सकते।" यद्यपि केवल शारीरिक तथा सामाजिक व्यवहार शुद्धि से परम लक्ष्य की सिद्धि नहीं हो जाती। परन्तु इनके विना भी सिद्धि का होना असम्भव है। इस प्रारम्भिक शोधन के विना परम तत्त्वज्ञान प्राप्ति की घोषणा करना भी मिथ्या अहंकार ही है। सत्य, तप, ब्रह्मचर्यादि-व्रत, श्रुति के अध्ययन, योगयागादि सब साधनों की सफलता ब्रह्म साक्षात्कार में ही है। श्रुति का परम तथा अपूर्व तात्पर्य इस परम आत्मस्वरूप के साक्षात्कार में ही है। "यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद् विदुस्त इमे समासते" (ऋग्वेद १,१६०,३६) "जो सर्व जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय का एकमात्र परम अधिष्ठान है,

जो वेदों का परम तात्पर्य है, जिसका बोध केवल वेदों से ही सम्भव है, जिस में केवल वेदों की ही परम प्रमाणता है, वेद जिस के स्वरूप को नित्य, शुद्ध, बुद्ध, सदा मुक्त स्वभाव, सच्चिदानन्द, एकरस, अखण्ड, अद्वितीय कहता है। यदि साङ्गोपाङ्ग वेद पढ़कर और योग यागादि साधन करके भी इस परम तत्त्व को साक्षात् रूप से नहीं जाना तो ये सब अनुष्ठान केवल शरीर तथा वाणी के श्रम मात्र ही हैं, अर्थात् रसहीन इक्षु खण्ड की तरह व्यर्थ हैं। परन्तु जो वेद मर्मज्ञ स्थिर, स्वच्छ तथा सूक्ष्म मति से उस वेद के परम प्रतिपाद्य, विलक्षणतत्त्व को पा लेते हैं, केवल उन्हीं की अध्ययन आदि सकल क्रियायें सफल हुई हैं।"

"यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्मिँल्लोके जुहोति यजते
तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तवदेवास्य तद् भवति,
यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वा ऽस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणो
ऽथ एतदक्षरं गार्गि विदित्वा ऽस्माल्लोकात्प्रैति स ब्राह्मणः।"

(बृहदारण्यकउपनि० ३,८,१०)

"हे गार्गि, जो मनुष्य भौतिक आकाश आदि के शासक उस चेतन, अक्षर, ब्रह्म को बिना जाने सहस्रों वर्ष इस लोक में हवन या यज्ञयाग अथवा तपस्या करता है, उस के ये सम्पूर्ण कार्य तथा परिश्रम आदि नश्वर फल देने वाले होते हैं। जो बिना उस के साक्षात्कार किये इस लोक से चला जाता है (मरजाता है), वह क्रीत दास के समान विवश होकर संसार चक्र में भटकता ही रहता है। हे गार्गि जो इस अक्षर ब्रह्म के साक्षात्कार के बिना इस लोक से प्रस्थान करता है वह दया का पात्र है और जो इस अक्षर-ब्रह्म को जान कर यहां से प्रस्थान करता है वही सच्चा ब्राह्मण है।

छान्दोग्य के सातवें अध्याय में आये सनत्कुमार और नारद उपाख्यान का तात्पर्य यही है कि अनन्त शास्त्र के अध्ययन से भी यदि ब्रह्म का साक्षात्कार न हुआ तो शोक मोह की निवृत्ति नहीं हो सकती।

"सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवाऽस्मि नात्मवित्,
श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति
सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवान् शोकस्य पारं
तारयत्विति तं होवाच यद्वै किंचैतदध्यगीष्ठा नामैवैतत्।"

(छान्दोग्य० ७,१,३)

"देवर्षि नारद श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सनत्कुमार से विनम्र निवेदन करते हैं" महाराज! मैंने आप जैसे महापुरुषों से यत्र तत्र सुना है कि आत्मवेत्ता शोक मोह से पार हो जाते हैं। उस आत्मा का बोध केवल वेद गम्य है। मैंने इसी लक्ष्य को सामने रखकर साङ्गोपाङ्ग वेद तथा अन्य सभी विद्याओं को भली भांति पढ़ा है। परन्तु मेरा शोक मोह दूर नहीं हुआ। इस से यही सिद्ध होता है कि मैं केवल शब्द का ज्ञाता हूं आत्मवित् नहीं। हे कृपालो! मैं अत्यन्त दुःखी हूं। हे भगवन्! आप अपनी अहेतुकी कृपा द्वारा मुझे इस शोक मोह से पार करने की अनुकम्पा करें। नारद ऋषि इस प्रकार निवेदन करके

जब चुप हो गये, तब सनत्कुमार ने कहा हे नारद ! तुम्हारा यह कथन तथ्य है। जो कुछ अब तक तुमने पढा है वह सब नाममात्र है। वेदादि सम्पूर्ण विद्याओं के अध्ययन मात्र से शोकादि की निवृत्ति नहीं होती, यह तो वेद के परमतात्पर्य ब्रह्म साक्षात्कार द्वारा ब्रह्मनिष्ठा में ही होती है।

"स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति।" (छान्दो० ७,२५,२)

"जो इस जगत् के मूल आधार ब्रह्मात्मा को अपना आधार तथा सर्वस्व मान कर उसका भली भांति साक्षात् अनुभव कर लेता है। सर्वत्र उसी को देखता तथा जानता है। इस स्थिति में उसकी आत्मा से ही क्रीडा, खेल, संयोग होता है। वह उस परम-आधार से अतिरिक्त अन्यत्र कहीं यत्किञ्चित् भी रमण नहीं करता। वही उसके आनन्द का साधन होता है। जिसके सम्पूर्ण सांसारिक व्यवहार उस परात्पर से ही होते हैं वही वास्तव में ब्रह्मनिष्ठ है और सदा ब्रह्मानन्द में रमण करता है। परन्तु सांसारिक पदार्थों के उपभोग में रमण करने वाले जीवों की निष्ठा तो सांसारिक भोगैश्वर्य में ही होती है। अपने मुख से कौन ब्रह्मज्ञानी नहीं बनता। परन्तु कथनमात्र से शोक मोह की निवृत्ति तथा परमानन्द की प्राप्ति रूपी ध्येय की सिद्धि नहीं हो सकती।

८. श्रोत्रिय लक्षणविचार

आत्म विद्या के आचार्य के दो लक्षणों का निरूपण

आचार्य को श्रुति, स्मृति, दर्शन आदि शास्त्रों के निर्णीत ज्ञान तथा रहस्य का ज्ञाता भी होना चाहिए। जैसे पहले भी वर्णन किया गया है कि धर्म तथा परमतत्त्व के बोध के लिए मुख्य तथा एकमात्र निर्भ्रान्त प्रमाण वेद ही है।

"अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः॥" मनु २,१३।

"जो अर्थ और काम में आसक्त नहीं हैं उन को ही धर्म ज्ञान का उपदेश किया जाता है। धर्म को जानने की इच्छा करने वालों के लिए वेद ही परम प्रमाण है।"

अतः कोई निरक्षर व्यक्ति जो वेदादि सच्छास्त्रों का ज्ञाता नहीं है आचार्य नहीं हो सकता। अथवा उर्दू, फारसी, अंग्रेजी या हिन्दी के ज्ञानमात्र से कोई इस विषय में अगुआ नहीं हो सकता। सर्वगुण सम्पन्न आचार्य के बिना, यत्किञ्चित् श्रुति को अध्ययन करने वाला श्रद्धा रहित, विधि हीन कोई व्यक्ति शास्त्र शिक्षा में प्रमाण नहीं माना जा सकता। ब्रह्मचर्य पूर्वक, तपस्वी जीवन व्यतीत करते हुए, पूर्णश्रद्धा और विधि पूर्वक, गुरु परम्परा द्वारा प्राप्त समग्र वेदादि सच्छास्त्रों का तात्पर्य हृदयगम करने की आवश्यकता है। शास्त्र के स्वरूप, थोथे, पल्लव ग्राही ज्ञान से कोई ब्रह्म विद्या के आचार्य की पदवी पर आरूढ नहीं हो सकता।" "बिभेति अल्पश्रुताद्वेद"। अल्प बुद्धि वाले से, जिसने साङ्गोपाङ्ग विधि पूर्वक वेद का सम्यक् ज्ञान प्राप्त नहीं किया है, वेद भय खाता है कि यह पण्डितंमन्य

व्यक्ति अवश्य अर्थ का अनर्थ करेगा और वेद विषयक नास्तिकता के प्रचार मे वृद्धि का हेतु बनेगा।

श्रुति का परम तात्पर्य अति रहस्यमय है। परम तत्त्व अद्वितीय है। उस का कोई दृष्टान्त नहीं हो सकता। उस अवाङ्मनसागोचर तत्त्व का परम हितैषिणी भगवती श्रुति श्रद्धालु जिज्ञासु को बोध कराने के लिए जिस किसी प्रकार से वर्णन करती ही है। यदि श्रोता उसके शब्द के लक्ष्यार्थ को न समझ कर शब्दार्थ को ही ग्रहण करता है तो भी वह वास्तविक बोध को प्राप्त नहीं होता। श्रुति इस त्रुटि तथा भूल को सुधारने के लिए अनेक प्रकार से शब्द, युक्ति, दृष्टान्त आदि का प्रयोग करती है। कई बार वह साधन में जिज्ञासु की अनन्य श्रद्धा उत्पन्न करने के लिए साध्य के समान ही साधन की महिमा का वर्णन करती है। वेद का हर एक प्रकरण, अधिकारी जिज्ञासु की दृष्टि से उसकी परिस्थिति तथा मनोभूमि के अनुकूल ही उपदेश करता है। इसलिए उस मे अनेक साधनो का वर्णन होना अनिवार्य ही है। इस लिए उस मे कई प्रकार का परस्पर विरोधाभास प्रतीत होना भी साधारण बात है।

इसी प्रकार भिन्न २ मतो के प्रामाणिक ग्रन्थों मे भेद तथा वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, वेदाङ्ग, षड् दर्शन आदि ग्रन्थों मे तथ्य तथा आभासक भेद की प्रतीति अनिवार्य है। इस लिए सामान्य जन का वेद मे अविश्वास हो जाना स्वभाविक है। यदि पूर्व जन्मों के पुण्य समूह के प्रभाव से किसी की श्रद्धा बनी भी रहे तो उसके लिए इस परस्पर भेद का समन्वय वा निवृत्ति करना सरल नहीं होता, क्योंकि शब्दों के अनेक अर्थ हो सकते हैं। अत श्रुति का तात्पर्य तो परम्परा से ही प्राप्त हो सकता है। इसलिए वह श्रोत्रिय जिसने अङ्गो सहित वेद का रहस्य समझा हुआ हो शास्त्र की इन रहस्यमयी ग्रन्थियो को सुलझा सकता है। अत ऐसे गुरु की शरण मे जाने से ही सिद्धि की आशा हो सकती है।

६. उपर्युक्त दोनो लक्षणों के समुच्चय का महत्त्व

वामदेव आदि ऋषि जिन्हें पूर्वकृत महान् पुण्यो के फल तथा पहले अनुष्ठान किये हुए साधनो के प्रताप से गर्भ मे ही परम तत्त्व का अपरोक्ष ज्ञान हो गया और उन्हें नियम पूर्वक श्रुति के अध्ययन की आवश्यकता नहीं हुई। वे लोग अपने समान उच्चकोटि के स्वच्छ सात्त्विक अन्त करण वाले व्यक्तियों के लिए उदाहरण हो सकते है और उन्हीं के पथ प्रदर्शक बन सकते हैं जिन को सकेत मात्र से सफलता हो जाती है। परन्तु सामान्य जिज्ञासु को तो ऐसे गुरु की आवश्यकता है जो उसकी समयानुकूल देख रेख करे और उसके दोषो, सशयो तथा त्रुटियो को भली भाति समझ कर उनका निवारण कर सके, क्योंकि ऐसे जिज्ञासु की उन्नति क्रमश ही होती है, उसे दीर्घकाल तक क्रम पूर्वक शिक्षा तथा साधन सामग्री की अपेक्षा रहती है। ऐसे सामान्य जिज्ञासुओं के लिए श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु चाहिए। उपर्युक्त प्रकार के केवल ब्रह्मनिष्ठ महात्माओ से ऐसे जिज्ञासुओं को उचित सहायता सम्यक्तया नहीं मिल सकती। अत गुरु का श्रोत्रिय होना आवश्यक है। परन्तु केवल श्रोत्रिय से भी पूर्ण लाभ होने की सम्भावना नहीं। उसको ब्रह्म साक्षात्कार

भी होना चाहिए। दोनो गुण संपन्न आचार्य की आवश्यकता है। क्योंकि श्रवण, मनन द्वारा श्रुति तात्पर्य विषयक असभावना दोष की निवृत्ति होती है, अथवा तात्पर्य विषयक सामान्य बोध होता है। ध्येय के विशेष स्वरूप का असदिग्ध, सद्या बोध साक्षात्कार से ही होता है, उसके बिना नहीं। अत केवल श्रुति के सामान्य बोधसम्पन्न, परन्तु ब्रह्म साक्षात्कार रहित आचार्य द्वारा प्राप्त शिक्षा से श्रुति के तात्पर्य के विषय मे भ्रान्ति की सभावना है। श्रुति के तात्पर्य विषयक भेद का मुख्य यही कारण है। इसे यों भी कह सकते हैं कि ब्रह्मनिष्ठता के बिना श्रुति के परमतात्पर्य ब्रह्म का उभयविध सम्यक् बोध ही अशक्य है और श्रोत्रिय के बिना उस उभयविध निर्भ्रान्त सम्यक् बोध का दूसरे के लिए वितरण करना भी शक्य नहीं है। इस लिए दोनो का समुच्चय ही उपयोगी तथा आवश्यक है। श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ से ही ससार के मनुष्यो का कल्याण होना सभव है। और वह भी तब हो सकता है जब कि ऐसा ज्ञानी पूर्व प्रारब्ध तथा वर्तमान पुरुषार्थ द्वारा अहर्निश ब्रह्मानन्द मे ही निमग्न न रहता हो। साथ ही जिसके हृदय मे अहैतुकी दया का सागर उमड रहा हो। जो उसी करुणा राशि से प्रेरित होकर सच्चे जिज्ञासुओ की मलिन वासनाओं, सशयो तथा भ्रम की कालिमा को धोकर ब्रह्म ज्ञान रूपी ज्योति द्वारा त्रिविध ताप का अत्यन्त उच्छेद कर दे।

१०. महापुरुषों का दिव्य वायुमण्डल तथा प्रभाव

आत्म विद्या के आचार्य के तीसरे गुण का निरूपण

ऐसे ब्रह्मनिष्ठ महात्माओं के वचन, कृपाकटाक्ष, सकल्प तथा सङ्ग में वह चमत्कारिणी दिव्य शक्ति होती है कि जिसके प्रभाव से सच्चे जिज्ञासु का जन्म जन्मान्तरो की विविध वासनाओं से कलुषित अन्त करण तुरन्त स्वच्छ, स्थिर होकर ऐसा शक्ति-सम्पन्न हो जाता है कि परतत्त्व को ग्रहण कर सके। उसके थोडे सत्सङ्ग तथा दर्शन से मनुष्य के सम्पूर्ण संशय अग्नि मे पडे तूलराशि के समान क्षणभर मे भस्म हो जाते हैं। ऐसे पुण्य महात्माओं के दर्शन तथा चिन्तन से साधना के विविध अन्तराय शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। उनके समीप बैठने का कभी पुण्यावसर मिलने पर यह वानर के समान चञ्चल चित्त अपनी स्वाभाविक चञ्चलता को छोड कर एकाग्र हो जाता है और आनन्द की हिलोरें लेने लगता है। उनके वचन अत्यन्त मधुर, हितकारी तथा रहस्यपूर्ण होते हैं। उनके एक बार का दृष्टिपात ससार सागर से पार कर देने की क्षमता रखता है। ऐसे ब्रह्मवेत्ताओ की महिमा अकथनीय है। वाणी तथा लेखनी मे कहा सामर्थ्य है कि उनके दिव्य प्रभाव का वर्णन कर सके।

प्रथम खण्ड समाप्त।

द्वितीय खण्ड

आधार वाक्य

शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो
भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति ।   बृ. उ. ४,४,२३.

(अर्थ) शम, दम, उपरति, तितिक्षा (श्रद्धा) तथा समाधान रूप षट्
सम्पत्तियुक्त जिज्ञासु ही आत्मा (ब्रह्म) का आत्मा
(निरुद्ध चित्त) मे दर्शन करता है ।

द्वितीय खण्ड के प्रत्येक अध्याय में आने वाले आधार वाक्य

पहिला अध्याय—आधार वाक्य

द द द इति तदेतत् त्रयं शिक्षेत् दमं दानं दयामिति । बृ उ ५,२,३

दूसरा अध्याय—आधार वाक्य

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृत कृतेन ।
मु उ १,२,१२

तीसरा अध्याय—आधार वाक्य

यस्तु विज्ञानवान्भवति समनस्कः सदा शुचि ।
स तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ॥ कठ उ ३,८

चौथा अध्याय—आधार वाक्य

इष्टापूर्त मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः ।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेम लोकं हीनतरं विशन्ति ॥ मु उ १,२,१०

पांचवां अध्याय—आधार वाक्य

तप श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्यां चरन्तः ।
सूर्यद्वारेण ते विरजा प्रयान्ति यत्रामृत स पुरुषोऽव्ययात्मा ॥ मु उ १,२,११.

छठा अध्याय—आधार वाक्य

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरो ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मन प्रकाशन्ते महात्मनः ॥ श्वे उ ६,२३.

सातवां अध्याय—आधार वाक्य

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभि ॥ कठ उ. ३,१२

आठवां अध्याय—आधार वाक्य

न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति,
अशरीर वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः । छा उ १२,१

दूसरा खण्ड

पहला अध्याय

शास्त्र-शिक्षा अधिकार

१. जिज्ञासु

गत अध्याय के गुरु प्रकरण में यह कहा गया है कि जलता दीपक ही बुझे हुए दीपक को जला सकता है। परन्तु उस बुझे हुए दीपक में तेल बत्ती आदि उपयुक्त सामग्री का होना आवश्यक तथा अनिवार्य है। नहीं तो सहस्रों जलते हुए दीपक एक बुझे हुए दीपक को भी नहीं जला सकते। ऐसे ही श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आनन्द-स्वरूप गुरु के बिना जिज्ञासु में परम इष्ट सच्चिदानन्द की झलक का आना असम्भव है। परन्तु शिष्यरूपी दीपक में उपर्युक्त अधिकाररूपी उचित सामग्री का होना आवश्यक है। इसलिए उस उपयोगी सामग्री का विस्तृत वर्णन तथा विवेचन किया जाना आवश्यक प्रतीत होता है। क्योंकि वर्तमान युग में कई कारणों से इस साधन सामग्री के सञ्चय की ओर ध्यान नहीं दिया जाता और इसका अभाव सा ही दीखता है; जिस के बिना ब्रह्मविद्या-पथ में गति अनधिकार चेष्टा हो जाती है और उस से अवनति तथा हानि हो रही है। इसके लिए हम बृहदारण्यक उपनिषद् के ५म अध्याय के द्वितीय ब्राह्मण की कथा का उल्लेख करते हैं; जिस से पाठकों को तात्पर्य समझने में सरलता होगी।

देवता, मनुष्य तथा असुर ये तीनों प्रजापति की सन्तान हैं। एक समय की बात है कि ये सभी जन्म, मरण, जरा, व्याधि तथा विविध प्रकार की आपत्तियों से त्रस्त तथा उद्विग्न हो उठे और अपने अपने कल्याण का उपाय सोचने लगे। सर्व सम्मति से यह निश्चय हुआ कि अपने पिता प्रजापति के पास जाकर उनसे विनय करनी चाहिए। सभी समित्पाणि होकर (श्रद्धापूर्वक) प्रजापति के आश्रम में पहुंचे। वहां पर उन्होंने शिष्यभाव से ब्रह्मचर्य तथा तपस्या का जीवन व्यतीत करना प्रारम्भ किया। कुछ काल इस प्रकार व्यतीत हो जाने पर जब उन्होंने देखा कि उन के आचार, व्यवहार, तप, व्रत, स्वाध्याय तथा सेवादि से प्रजापति प्रसन्न हो गये हैं तब वे यथा क्रम, यथावसर प्रजापति के चरणों में उपस्थित होकर सदुपदेश की याचना करने लगे।

सब से पहले देवताओं ने अपने पिता प्रजापति के पास जाकर श्रद्धा-पूर्वक विनय-भाव से प्रार्थना की—"हे भगवन्! हमें कल्याण मार्ग का उचित उपदेश कीजिए।" इस प्रकार शास्त्र रीति के अनुसार शिक्षा की याचना करने पर देवताओं को प्रजापति ने उत्तर में केवल "द" अक्षर कहा और पूछा कि क्या वे उसके दिये हुए उपदेश को समझ गये। देवताओं ने हां में उत्तर दिया और कहा—"हे भगवन्! आपने हमारे हितार्थ हमें यह उपदेश दिया है कि हम अपने मन और इन्द्रियों का दमन करें। क्योंकि हम देवता स्वभावतया इन्द्रिय भोगों में रमण करने वाले होते हैं। इस में ही अपना कल्याण मानते हैं। परन्तु ऐसा मानना हमारी भूल है। क्योंकि क्षणभंगुर, आपात-रमणीय भोगों

से अखण्ड तृप्ति कहां ? इसलिए आपने हमे यह शिक्षा दी है कि हमें मन तथा इन्द्रियो का दमन करना चाहिए।" यह सुनकर प्रजापति प्रसन्न हुए और उन्होने कहा कि वे लोग उनके भाव को ठीक समझे है। प्रजापति ने उन्हें आशीर्वाद दिया और देवता लोग दण्डवत् प्रणाम करके अपने घरो को चल दिये।

उसके पश्चात् मनुष्य प्रजापति के पास पहुचे और उन्होने भी वैसे ही कल्याण मार्ग के उपदेश के लिए प्रार्थना की। प्रजापति ने उन्हें भी पहले की तरह "द" अक्षर कह कर ही उपदेश किया। मनुष्यो ने अपना स्वभाव लोभी होने के कारण उसका ऐसा अर्थ समझा मानो प्रजापति उन्हें कह रहे हैं कि—"हे मनुष्यो! तुम शास्त्र-विधान के अनुसार न्यायपूर्वक जिस धनधान्य का उपार्जन करते हो। उसे केवल अपने तथा अपने कुटुम्ब के भरण पोषण मे ही व्यय मत कर दो। प्रत्युत निर्धन, रोगी आदि अन्य अधिकारियो को भी यथा शक्ति अन्न-वस्त्र आदि का दान किया करो।" इसी प्रकार असुरो के जाने और उपदेश मागने के उत्तर मे भी प्रजापति ने वही "द" अक्षर का ही उच्चारण किया। असुरो ने इस "द" अक्षर से यह अभिप्राय ग्रहण किया कि हम स्वभाव से क्रूर प्रकृति के तथा हिंसा परायण हैं, इस लिए प्रजापति ने "द" अक्षर से हमे 'दया' को धारण करने का उपदेश किया है। प्रजापति ने जो शिक्षा देवों, मनुष्यों और असुरो को पूर्वकाल मे दी थी, उस शिक्षा का प्रवाह अब तक चला आ रहा है। जब बिजली कड़कती है तो मानो "द" "द" "द" इन तीन दकारो को स्मरण कराती है और घोषणा करती है कि जिज्ञासुओं को आत्म-कल्याण के लिए दमन, दान और दया को अपनाना चाहिए। इसी से अभीष्ट की प्राप्ति तथा विविध दुःखो की निवृत्ति हो सकती है।

२. गाथा में वर्णित अधिकारी-भेद तथा अधिकारोचित शिक्षा

इस छोटी सी गाथा के द्वारा शास्त्रों के सार का निरूपण किया गया है। ससार के सभी मनुष्य अपनी २ योग्यता, अवस्था तथा परिस्थिति के आधार पर जिज्ञासा के अनुसार शिक्षा के अधिकारी होते हैं। शास्त्र सब मनुष्यों के उद्धार के लिए है। किसी व्यक्ति के लिए शास्त्र का मार्ग बन्द नहीं है। हा! मनुष्य मे सच्ची जिज्ञासा का होना आवश्यक तथा अनिवार्य है। जिसको प्यास लगी है उसी के लिए पानी की अपेक्षा होती है। पिपासा रहित व्यक्ति के लिए मीठा शरबत भी व्यर्थ ही होता है। जो लोग कामिनी काञ्चन मे मस्त, 'शिश्नोदरपरायणा' प्रकृति के पुजारी है और अपने आप को भोग भोगने मे ही कृतकृत्य मान रहे हैं। ऐसे लम्पट, विषयी, पामर पुरुष पारमार्थिक जिज्ञासा से कोरे होते है। वे शास्त्र वचनो को कैसे सुन सकते है? उनको तो भगवान् का दण्ड ही सन्मार्ग पर ला सकता है। सम्भवतः ऐसे ही लोगों के लिए मनु महाराज ने कहा है:—

"नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयान् न चान्यायेन पृच्छतः।
जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत्" मनु २,११०.

"शास्त्रवित् मेधावी कभी बिना पूछे अश्रद्धालु, जिज्ञासा रहित व्यक्ति को शास्त्र का उपदेश न करे। तथा अन्याय या दम्भ से अर्थात् श्रद्धा भक्ति शून्य भाव से पूछे जाने पर भी शास्त्र तत्त्व को न बताए। वह सब कुछ जानता हुआ भी लोक मे मूढ़ के सदृश

व्यवहार करे।" जिज्ञासा रहित अनधिकारी को उपदेश देने मे सिरदर्दी ही होती है। उस से वैमनस्य बढ़ने के अतिरिक्त और कोई लाभ नहीं होता।

उपर्युक्त उपनिषद् की गाथा मे आध्यात्मिक दृष्टिकोण से सब मनुष्यो को तीन श्रेणियों मे विभक्त किया गया है। सभी मनुष्य सब शिक्षाओ के अधिकारी नहीं होते। हरएक अपनी अवस्था तथा योग्यता के अनुसार ही उपदेश को समझ सकता है। उस के लिए अपनी शक्ति, सामर्थ्य से अधिक उच्च उपदेश कोई लाभ नहीं पहुंचाता। वह प्रायः नास्तिकता का कारण होता है। जिस प्रकार अथर्वण के अध्यात्मोपदेश का इन्द्र पर उलटा ही प्रभाव पड़ा। समझ न आने पर अनधिकारी तथ्य को भी असभव कह देगा और उसे मिथ्या अपलाप का नाम दे देगा। इसी लिए मनु महाराज ने भी कहा है कि:—

"विद्ययैव समं कामं मर्तव्यं ब्रह्मवादिना।
आपद्यपि हि घोरायां न त्वेनामिरिणे वपेत्॥" मनु २,११३.

"ब्रह्मचारी बेशक विद्या को अपने साथ लेकर मर जावे। परन्तु घोर आपत्ति आने पर भी विद्या को ऊसर मे बीज बोने के समान अनधिकारी-अयोग्य व्यक्ति को न दे।" जैसे ऊसर भूमि मे बोया हुआ बीज कोई फल नहीं लाता, उसी प्रकार अनधिकारी को दी हुई विद्या निष्फल होती है। इसका उलटा श्रम ही श्रम-दुःख रूपी फल होता है। जो जिज्ञासु नहीं अथवा जो जिस विद्या का अधिकारी नहीं उसे उपदेश देने से विद्या फलवती नहीं होती। उपदेश के इस रहस्य की दृष्टि से ही प्रजापति ने देवता, मनुष्य, तथा असुरों को उनकी योग्यता तथा अधिकार के अनुरूप भिन्न २ उपदेश किया।

३. असुर शिक्षा

४. हिंसा-त्याग

आसुरी स्वभाव वाले मनुष्यों की गणना, शास्त्र दृष्टि से सर्वतोऽधम श्रेणी में की गई है। क्योंकि ये तमोमयी प्रकृति के नराधम क्रूर-स्वभाव वाले होते हैं। ये लोग दूसरों को दुःख देने मे तनिक भी लज्जा का अनुभव नहीं करते। ये मानव रूप वाले हिंसक पशु ही होते हैं। जिसकी लाठी उसकी भैंस (Might is Right) की उक्ति इन पर चरितार्थ होती है। दूसरो को हानि पहुंचा कर अपनी स्वार्थ-सिद्धि करना ही इनका लक्ष्य होता है। ये लोग संपूर्ण संसार पर अपना ही स्वत्व समझते हैं।

इस प्रकार का पशु स्वभाव वाला मानव चाहे कितना भी बल, सामर्थ्य, बुद्धि, कला-कौशल तथा भौतिक विज्ञान के अनेक आविष्कारो से सम्पन्न क्यों न हो; इतना सब कुछ होते हुए भी वह स्वत्व का निर्णय न्याय के आधार पर नहीं परन्तु बल के आधार पर ही करता है। जिस प्रकार व्याघ्रादि हिंसक पशु अपनी अभीष्ट सिद्धि के लिए दूसरे पर आक्रमण करने का निर्णय केवल अपनी शारीरिक शक्ति के आधार पर ही करता है। उस के लिए ऐसे स्थल मे धर्माधर्म, पुण्य-पाप, उचितानुचित तथा सत्यासत्य के विवेक की आवश्यकता नहीं होती। वह पाशविक शक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी अखण्ड-सत्य, न्याय अथवा धर्म को नहीं मानता।

आसुरी भाव से भावित अन्त करण वाला व्यक्ति श्रुति प्रतिपादित तत्त्व को अधिगम कर सकने मे सदा असमर्थ रहता है। अन्त मे सदा सत्य की ही विजय होती है, झूठ की नहीं—इस सिद्धान्त को नहीं मानता। वह यह भी नहीं सोचता कि अन्त मे दूध का दूध और पानी का पानी अवश्य हो जाता है। उसके लिए कूट नीति ही परम सत्य होती है। जिस नर पिशाच पामर पुरुष को ऐसी हीन नीति तथा असदाचरण मे यत्किञ्चित् सकोच भी नहीं होता, ऐसा मलिन मन वाला किसी आध्यात्मिक उपदेश का अधिकारी नहीं होता। क्यों कि वह अभी मनोवाक् काया से परपीडन तथा परद्रोह को ही लक्ष्य मान रहा है।

५. पामर पुरुष को शास्त्र उपदेश मे अधिकार नही

भोग मे अत्यन्त आसक्त मनुष्य शास्त्र तथा लोक के विरुद्ध किसी व्यवहार के चिरकाल पश्चात् होने वाले दुष्परिणाम को नहीं सोच सकता। वह इतना मोह ग्रस्त होता है कि यदि किसी पाशविक मनोवेग की पूर्ति करने के लिए तुरन्त उसके प्राण जाने का भय हो, तो यह मृत्यु भय भी उसे उस कुचेष्टा से रोक नहीं सकता। अत ऐसे पामर के लिए शास्त्रशिक्षा का अवसर ही कहा है ? मनुस्मृति मे कहा गया है— अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञान विधायत धर्मोपदेश का विधान उनके लिए ही है जो अर्थ और काम मे आसक्त नहीं हैं। इसका भाव यह है कि जो भोग के मद से अधे हुए हुए हैं, ऐसे विवेक हीन पामरों के लिए शास्त्र उपदेश नहीं है।

६. असुरों के हिंसा से अतिरिक्त अन्य स्वाभाविक-दोष

उपर्युक्त गाथा की दृष्टि से हमने यह निर्धारित किया है कि असुर का स्वभाव अत्यन्त क्रूर होता है। उसको किसी के प्राण तक अपहरण करने मे कुछ भी सकोच, लज्जा तथा भय नहीं होता। अन्य प्राणियों से उसके व्यवहार का यही मुख्य भेद है। दूसरे प्राणियों पर प्रभाव की दृष्टि से गाथा मे हिंसा का विशेष रूप से उल्लेख है। परन्तु कार्य अथवा कारण भाव से इस क्रूर स्वभाव से सम्बद्ध अन्य कई दोष इस मे सम्मिलित रहते हैं जिन के विशद निरूपण का यहा अवसर नहीं है। अत सक्षेप से ही उनका निरूपण किया जाता है। इस श्रेणी के मनुष्य के ज्ञान तथा विचार का आधार मुख्यतया चक्षु आदि बाह्य इन्द्रिया ही होती है। (१) वह प्रत्यक्ष प्रमाण के अतिरिक्त किसी शास्त्र अथवा महान् पवित्र आत्मा के उपदेश की आवश्यकता नहीं समझता। तथा निम्नलिखित धारणाए रखता है। (२) इस ससार का कोई सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी ईश्वर नियन्ता नहीं है। (३) देह से भिन्न कोई स्वतत्र चेतन (जीव) की सत्ता नहीं है। (४) पाशविक बल तथा भौतिक नियम ही परम सत्य है, इसके अतिरिक्त धर्म अधर्म कुछ नहीं है। (५) जीव को नहीं मानता इसलिए परलोक के विषय मे स्वाभाविक रूप मे अविश्वासी होता है।

७. शास्त्र अधिकार आरंभ

८. असुर के लिए उपदेश-दया

यह मायामय ससार चक्र सदा एकरस रहने वाला नहीं है। मनुष्य की परिस्थिति

प्रारब्ध वश बदलती रहती है। राजा रंक हो जाता है तथा रंक राजा हो जाते हैं; चक्र-नेमि क्रम से संसार तथा व्यक्तियों की स्थिति परिवर्तित होती रहती है। इसी नियम के अनुसार सुख-सम्पत्ति-सम्पन्न व्यक्ति का भाग्य जब कभी पलटा खाता है और दैवी कोप अथवा प्रभु-प्रेरित कोई प्रबल मानवीय शक्ति इसका सर्वस्व हर लेती है तब वह मोह-निद्रा से जागता है। तब "यह पाशविक शक्ति ही परम सत्य है" इस भयानक घोर-संसार-नाशक हिंसा रूपी व्यवहार की निकृष्टता तथा तुच्छता उसके मन में कुछ खटकने लगती है। और उसके व्यवहार की क्रूर नीति वाली आधार शिला कुछ हिलने लगती है। तब वह भयभीत हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में उसके मन में जिज्ञासा का अंकुर उत्पन्न होता है। उसी के लिए प्रजापति का यह उपदेश कि "क्या करो" सार्थक होता है ? "कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः" (वैशेषिक सूत्र. २,१,२४) इस वैशेषिक नियम के अनुसार कार्य कारण के अनुरूप ही हुआ करता है। आक के पौदे पर कभी आम का फल नहीं लगा करता। जौ बोने पर गेहूं की प्राप्ति असम्भव होती है। यदि इस विधाता के जगत् रूप क्षेत्र में तुम दुःख रूपी बीज बोओगे तो वह बीज के समान अनेक गुणा हो कर तुम्हें क्लेशित करेगा। मनुष्य स्वभावतः दुःख नहीं चाहता। परन्तु दुःख से बचने के लिए जैसे खान पान आदि भौतिक नियमों का पालन करना आवश्यक है वैसे ही इस आध्यात्मिक शास्त्रोक्त नियम का पालन भी अनिवार्य होता है, कि यदि यह प्राणी आध्यात्मिक दुःखो से बचना चाहता है तो उसे चाहिए कि वह अन्य प्राणियों पर दया करे, उन्हें किसी प्रकार से थोड़ा भी दुःख न दे, उनसे अन्न, धन आदि बलात् अथवा कुटिल नीति से कभी न छीने। अन्यथा जैसे कुपथ्य आदि करने से अनेक प्रकार के दारुण रोगों से पीड़ित होना पड़ता है, वैसे ही मानसिक आदि क्लेशों से उसका कदापि छुटकारा नहीं हो सकता। हिंसा के कटु फल रूपी दुःख को उसे भुगतना ही पड़ेगा। इस-लिए इस को अवश्य अहिंसा-व्रत धारण करना चाहिए। जो मनुष्य अत्यन्त पामर नहीं है, जिन की आत्मा कुछ जाग्रत हो चुकी है, जिनके भीतर आध्यात्मिक जगत् के आधार भूत प्रथम नियम अहिंसा के विषय में शास्त्रोक्त उपदेश सुनने की अभिलाषा उत्पन्न हो चुकी है उनके लिए अहिंसा का स्वरूप संक्षेप से निरूपण किया जाता है।

६. अहिंसा का स्वरूप तथा महत्त्व

योगदर्शन में अहिंसा का उपदेश

"तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः उत्तरे च यमनिय-मास्तन्मूलास्तत्सिद्धिपरतया तत्प्रतिपादनाय प्रतिपाद्यन्ते तदवदात-रूपकरणायैव उपादीयन्ते।" (व्यास भाष्य २,३०)

"प्राण संकट में पड़ने पर भी मन, वाक्, काया द्वारा स्थावर जंगम आदि सब प्राणियों से कभी द्रोह न करना अर्थात् दूसरे को पीड़ा पहुचाने की बुद्धि का परित्याग ही अहिंसा है। अहिंसा शेष सब यम-नियमों का मूल है। अहिंसा सिद्धि के लिए शेष सत्यादि यम-नियमों का सम्पादन किया जाता है। अहिंसा का व्रत इनके बिना पूर्णतया शुद्ध तथा

पवित्र नहीं होता। क्योंकि सत्य, अस्तेय (चोरी का त्याग) आदि का जब निर्वाह (पालन) न किया जाए तो उस उस प्रसंग, स्थल या अवसर में हिंसा (किसी न किसी प्राणी का अनिष्ट) होती ही है। सत्य ही कहा गया है—

"यथा नागपदे ऽन्यानि पदानि पदगामिनाम्।
सर्वाण्येवापिधीयन्ते पदजातानि कौञ्जरे॥ (महाभारत मोक्षधर्म)

"जैसे सब प्राणियों के पग चिन्ह हाथी के पग चिन्ह में समा जाते हैं वैसे ही शेष सब व्रत अहिंसा व्रत में समा जाते हैं।"

भगवान् व्यास का उपर्युक्त वचन कि "अहिंसा ही सत्यादि का मूल है" विशेष मनन तथा आदर के योग्य है। इसको दृष्टि में न रखने से हमारा कोई भी यम-नियम पूर्ण अथवा सार्थक नहीं होता।

१०. अहिंसा व्रत का भंग होना

सर्व साधारण मनुष्य प्रायः केवल स्थूल बाह्य व्यवहार पर दृष्टि रख कर ही किसी व्रत का पालन करता है। जिससे प्रायः यथार्थ व्रत भंग हो जाता है। परन्तु लोभ मोह के वश हुआ वह अपनी भूल को नहीं समझ सकता। उदाहरणार्थ—मांस का न खाना अथवा किसी प्राणी के प्राण हरण न करना अहिंसा समझा जाता है। तथापि हमें ऐसे अनेक निरामिष भोजी मिलेंगे जो मांस भक्षण को अत्यन्त निन्दनीय समझते हैं, परन्तु असत्य आदि द्वारा दूसरों के प्राण-आधार अन्न, धन का अपहरण दिन रात करते हैं। ऐसा करने में उनको किसी प्रकार का संकोच नहीं होता। और ऐसा करते हुए भी वे अपने आप को अहिंसा व्रत के पालन करने वाले मानते हैं। ऐसे झूठे पापी जनों की चेतावनी के लिए ही व्यास भगवान् ने उपर्युक्त यह निर्देश किया है कि अहिंसा की सिद्धि के लिए सत्यादि का आचरण आवश्यक है।

११. सत्यादि नियमों का भंग कैसे होता है

जैसे सत्यादि के भंग करने से अहिंसा व्रत दूषित हो जाता है ऐसे ही यदि हम अहिंसा व्रत को दृष्टि में न रखते हुए स्थूल दृष्टि से सत्य आदि का आचरण करें तो वे सत्यादि व्रत भी सार्थक नहीं होते। ऐसा सत्य, सत्य अथवा धर्म का आभासमात्र होता है। इसकी व्याख्या स्वयं भगवान् व्यास इस प्रकार करते हैं। (क) प्रत्यक्षादि प्रमाण द्वारा प्राप्त निश्चित ज्ञान के अनुरूप मन अथवा वाणी के व्यवहार को सत्य कहते हैं। (ख) अपने ज्ञान का दूसरे को बोध कराने के लिए वाणी का उपयोग होता है। इसलिए कोई वाक्य भ्रान्त (Untrue) वञ्चना युक्त, अथवा भावशून्य नहीं होना चाहिए। (ग) यह वाणी सब प्राणियों के उपकार के लिए है, न कि उनका नाश करने के लिए। यदि वाणी का उपयोग ज्ञानानुसार तो हो, परन्तु इससे अन्य प्राणियों को पीड़ा पहुंचे तो इसे सत्य कदापि नहीं कहा जासकता, यह निश्चित पाप ही है। पुण्य के समान प्रतीत होने वाले ऐसे पुण्याभास के आचरण से मनुष्य घोर कष्ट को पाता है। इस लिए भली भांति परीक्षा करके सत्य बोले। इस उदाहरण से यह स्पष्ट विदित होता है कि केवल यथार्थ-ज्ञान के अनुसार

बिना सोच विचार के कथन कर देना ही सत्य नहीं है, यदि इस प्रकार के कथन से किसी का अहित होता है तो वह वाक्य सत्य की श्रेणी मे नहीं आता। ऐसे कथन से जब किसी का अनिष्ट न होता हो तभी उसे सत्य कह सकते हैं। इसी प्रकार अपने अन्य सम्पूर्ण व्यवहारों तथा यम नियम के पालन के सम्बन्ध मे इस रहस्य को दृष्टि मे रखना चाहिए, नहीं तो यत्न करने पर भी हमारा जीवन निष्पाप नहीं रह सकता।

इस व्याख्या से हमे केवल सत्य अहिंसा आदि का रहस्य ही ज्ञात नहीं होता प्रत्युत सम्पूर्ण आध्यात्मिक जीवन के उद्देश्य तथा साधनो के वास्तविक स्वरूप या भाव का पता चलता है। हमे अहिंसा आदि के किसी बाह्य स्थूल व्यावहारिक रूप की ओर अधिक ध्यान नहीं देना चाहिए। अपितु प्रत्येक व्यवहार के मौलिक आधार भूत भाव अथवा तात्पर्य को दृष्टि मे रखना चाहिए। ऐसा न होने पर व्यक्ति तथा समाज पुण्य के स्थान मे पाप का आचरण करता रहता है। इसके कारण वैयक्तिक, सामाजिक तथा राजनीतिक पतन द्वारा ऐहिक तथा पारलौकिक अनन्त कष्ट उठाना पडता है। यदि हम कर्ता के भाव अथवा परिणाम की ओर न देख कर किसी तात्कालिक बाह्य स्वरूप के आधार पर अहिंसा आदि को निर्धारित करें तो एक डाक्टर द्वारा किसी रोगी की चीरा फाडी को भी हम हिंसा कह देंगे। यद्यपि इस प्रकार के स्थल मे हम भूल नहीं करते। परन्तु अन्य अनेक स्थलों मे लकीर के फकीर बने हुए भूल करते हैं। हमे इस पुण्य पाप के आधारभूत मौलिक सिद्धान्त का विशद निरूपण गीता मे मिलता है। युद्ध के समान घोर, भयकर, ससार नाशक अन्य कोई मानवीय व्यवहार देखने मे नहीं आता। अर्जुन अपने माननीय पूर्वजो, सगे सम्बन्धियो तथा अन्य असख्य योद्धाओ का युद्ध मे संहार होने की सम्भावना से घबरा जाता है। परन्तु भगवान् कृष्ण हिंसा आदि पाप का वास्तविक भाव गीता मे इस प्रकार निरूपण करते हैं —

"यस्य नाहकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वाऽपि स इमॉंल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते।" (१८,१७)

"जिस मनुष्य की बुद्धि मलिन स्वभाव के वश होकर किसी तात्कालिक ऐहिक फल धन, राज्य आदि के प्रलोभन मे लिप्यमान नहीं होती अथवा परमात्मा के यथार्थ तथ्य ज्ञान के आधार पर जिस को किसी पुण्य पाप के कर्ता होने का अभिमान नहीं है, (ऐसे अभिमान का अभाव किसी धर्म तथा ज्ञान पथारूढ विरले तत्त्वज्ञानी को हो सकता है) वह यदि बाह्य स्थूल व्यवहार की दृष्टि से सम्पूर्ण लोको का हनन करता भी दीखे, तो भी वास्तव मे न वह किसी का हनन करता है न ऐसे बाह्य हनन के पाप से लिप्त होता है। तात्पर्य यह है कि ऐसे व्यक्ति के इस प्रकार के व्यवहार का नाम हिंसा रखना भूल है। धर्माधर्म का इस से अधिक तात्त्विक विवेचन करने का न तो यहा पर अवकाश है और न यहा उसका मुख्य प्रयोजन है। प्रसङ्गवश यहा इसका दिग्दर्शन कराया गया है। विचारवान् के लिए इतना ही पर्याप्त है। जो व्यक्ति लोभ अथवा मोह के पाश मे नितान्त जकडे हुए हैं वे पहले तो शास्त्रोपदेश की आवश्यकता ही नहीं समझते यदि वे शास्त्र का कभी उपयोग करते हैं तो भोले, असमर्थ, निर्बल मनुष्यों की वञ्चना के

लिए शास्त्र-वाक्यों के अनेक मनमाने अर्थ करके, अपने पापाचार को छिपाना चाहते हैं। अथवा कई बार आकाङ्क्षा कुछ सच्ची होने पर भी तमोगुण की मात्रा अधिक होने के कारण शास्त्र के रहस्य को हृदयङ्गम नहीं कर सकते । ऐसे जनों का मोह तो भगवान् अपनी कृपा से शनैः-शनैः दूर करते ही हैं। परन्तु पूर्व-वर्णित कुटिल, चतुर, पामर जनों को तो भगवान् का दण्ड रूपी वज्र ही सन्मार्ग पर ला सकता है। अहिंसा के मौलिक स्वरूप का उपर्युक्त विवेचन श्रद्धालु तथा विचारवान् मनुष्यों के लिए पर्याप्त होगा।

१२. मनु महाराज का उपदेश

योगदर्शन के २,३० सूत्र के उपर्युक्त व्यासभाष्य द्वारा अहिंसा के वास्तविक तात्पर्य तथा साधारण मनुष्यों के सामान्य व्यवहार में इसके सदुपयोग का उपर्युक्त विवेचन हो चुका है। अर्थात् यम-नियमों का मूल अहिंसा है। शेष नौ यम-नियम अहिंसा की सिद्धि के लिए हैं। सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह का पालन भी अहिंसा के लिए आवश्यक है। अथवा इस प्रकार भी कह सकते हैं कि सत्य आदि द्वारा अहिंसा की ही विस्तृत व्याख्या की गयी है। मनु महाराज ने भी १२ वें अध्याय में पाप तथा उसके परिणाम की विस्तृत व्याख्या की है। पाठकों के मनन तथा उपयोग के लिए इसके कुछ अत्यन्त आवश्यक भाग का हम यहां उल्लेख करते हैं। इस निरूपण से भी यही पता चलता है कि यहां भी उन्हीं व्यवहारों को पाप माना गया है जिन से दूसरों को दुःख पहुंचता है। अर्थात् मनु महाराज के उद्धरणों से भी योगदर्शन के इस कथन की पुष्टि होती है कि पाप का मूल हिंसा है शेष सब इस के पल्लव शाखाएं हैं।

अधिष्ठान के अनुसार कर्म के तीन भेद—मानसिक, वाचिक, कायिक

"शुभाऽशुभफलं कर्म मनोवाग्-देह-सम्भवम् ।
कर्मजा गतयो नृणामुत्तमाधममध्यमाः ॥"

"मनुष्य के मन वाणी तथा शरीर से होने वाले कर्मों के शुभ और अशुभ दो प्रकार के फल होते हैं। इस द्विविध फल के अनुसार मनुष्यों की उत्तम, मध्यम तथा अधम, ये तीन प्रकार की गतियां होती हैं।"

कर्म में मन का महत्त्व

"तस्येह त्रिविधस्यापि त्र्यधिष्ठानस्य देहिनः ।
दशलक्षणयुक्तस्य मनो विद्यात् प्रवर्तकम् ॥" मनु १२,४

"मन, वाणी तथा शरीर के आश्रय से होने वाले उत्तम, मध्यम तथा अधम फल देने वाले कर्मों का मूल प्रवर्तक तो मनुष्य का मन ही है। क्योंकि मन, वाणी तथा देह से होने वाले दस प्रकार के कर्म मन के बिना नहीं सम्प[illegible] ।"

यहां पर मन को प्रवर्तक कहा [illegible]
कायिक [illegible] ल वाचिक नहीं होता

पुण्य तथा पाप हमारे शुद्ध तथा मलिन भावों पर निर्भर होते हैं। पुण्य तथा पाप का आधार मन ही है। यदि शरीर या वाणी द्वारा किसी का अनिष्ट अथवा अहित हो जाय परन्तु मन मे अहित करने का भाव न हो और न सामान्य तमोगुणी प्रमाद दोष के कारण ही यह अनिष्ट हुआ हो तो ऐसी दशा मे हमे उस को पाप नहीं समझना चाहिए। परन्तु यदि किसी का मन दूषित हो और उसके वाचिक या कायिक कर्म से किसी का अनिष्ट न होकर अकस्मात उसका हित ही हो जाय तो भी वह मनुष्य पाप का ही भागी होता है। अतः पाप से बचने के लिए सदा मन पर दृष्टि रखनी चाहिए। और कायिक तथा वाचिक कर्मों मे किसी प्रकार की लापरवाही या प्रमाद भी नहीं करना चाहिए।

१३. मानसिक कर्म के तीन भेद

"परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसाऽनिष्टचिन्तनम्।
वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम्॥" मनु १२,५

"दूसरे के धन धान्य को चतुराई तथा अन्याय से अपहरण करने का चिन्तन, तथा निषिद्ध कर्माकाङ्क्षा, और ईश्वर, वेद, परलोक तथा कर्म फल आदि मे अविश्वास—ये त्रिविध मानसिक अशुभ कर्म कहलाते हैं। इसके विपरीत न्याय पूर्वक धनोपार्जन का चिन्तन, प्राणिमात्र का इष्ट-चिन्तन तथा विहित कर्माकाङ्क्षा, और ईश्वर, वेद, परलोक तथा कर्म फलादि मे श्रद्धा—ये त्रिविध मानसिक शुभ कर्म कहलाते हैं।"

१४. वाचिक कर्म के चार भेद

"पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चापि सर्वशः।
असम्बद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम्॥" मनु १२,६

"कठोर वचन, असत्य भाषण, परनिन्दा और निष्प्रयोजन परचर्चा—ये चतुर्विध वाणी के अशुभ कर्म हैं। इसके विपरीत मृदु तथा प्रियवचन, सत्यभाषण, परगुण-गान और सप्रयोजन वार्ता—ये चतुर्विध वाणी के शुभ कर्म हैं।"

१५. शारीरिक कर्मों के तीन भेद

"अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः।
परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम्॥" मनु, १२,७

"अन्याय द्वारा दूसरो के धन का ग्रहण करना, निषिद्ध कर्म हिंसादि का करना, और पर-स्त्री गमन—ये त्रिविध शारीरिक अशुभ कर्म हैं। और इसके विपरीत न्याय पुरःसर दूसरे की अनुमति से उस की वस्तु का ग्रहण, विहित कर्म अहिंसा, दया आदि का अनुष्ठान और स्वपत्नीव्रत धारण—ये त्रिविध शारीरिक शुभ कर्म हैं।"

१६. अहिंसा अर्थात् असुरस्वभाव निवृत्ति का उपाय

अहिंसा के स्वरूप तथा भेदों का सविस्तर निरूपण हो चुका। परन्तु इतना जान लेने मात्र से दृढता पूर्वक उस पर आचरण नहीं हो सकता। इस शिथिलता के

अनेक कारण हो सकते हैं। अतः असुरों के हिंसक स्वभाव की निवृत्ति के लिए उपायों का वर्णन भी आवश्यक है। अन्यथा यह सब विवेचन निष्फल होगा। अतः अब उन उपायों का वर्णन किया जाता है जिन से अहिंसा व्रत का पालन किया जा सके।

योगदर्शन वर्णित उपाय—जैसे अहिंसा के स्वरूप को निर्धारित करने के लिए सबसे पहले योगदर्शन का सहारा लिया गया है, वैसे ही सब से पहले योगदर्शन द्वारा वर्णित उपाय का उल्लेख उपयुक्त प्रतीत होता है:—

"वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्।" योग २,३३

जब वितर्क (हिंसा आदि यम विरोधी भावों की प्रबलता) से बाधा (अहिंसा आदि यमों के भंग होने का भय) उपस्थित हो तो प्रतिपक्ष (हिंसादि के दुष्परिणामों) का चिन्तन करो।

व्यासभाष्य का तात्पर्य-जब किसी ब्राह्मण साधक योगी के मन में हिंसा आदि वितर्क उत्पन्न हो अर्थात् जब ऐसे भाव मन में आवें कि मैं शत्रु का हनन करूंगा, अमुक लक्ष्य की सिद्धि के लिए झूठ भी बोलूंगा, अमुक का धन छीनूंगा, उसकी दारा का उपभोग करूंगा, अन्यों की सम्पत्ति आदि का भी स्वामी बनूंगा—इस प्रकार के कुमार्ग में प्रवृत्त करने वाले शास्त्र विरुद्ध विचार रूपी अति तीव्र ज्वर से जब वह पीडित हो तो प्रतिपक्ष की भावना करे अर्थात् संसार की दारुण दुःख रूपी प्रचण्ड अग्नि में दिन रात जलने से भयभीत होकर मैंने सब प्राणियों को अभय प्रदान कर योग, अहिंसा आदि धर्म की शरण ली, अब इन हिंसा आदि वितर्कों को एक बार त्याग कर यदि पुनः इनको ग्रहण करूंगा तो कुत्ते और मुझ में क्या अन्तर रहा। यह मेरा कुत्ते के सदृश निन्दनीय व्यवहार होगा, ऐसी भावना करे। जैसे कुत्ता वमन करके पुनः उसका भक्षण करता है। ठीक उसी प्रकार हिंसा आदि त्यागे हुए मलिन भावों को मैं पुनः स्वीकार नहीं करूंगा-ऐसा निश्चय करे।

सूत्रकार महर्षि पतञ्जलि स्वयं निम्न सूत्र में वितर्क अथवा प्रतिपक्ष भावना सम्बन्धी अपने अभिप्राय को स्पष्ट करते हैं।

"वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका
मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्।" योग २,३४

वितर्क—वितर्क का अर्थ है हिंसा आदि यम विरोधी पाप के दस प्रकार। फिर एक एक हिंसा आदि वितर्क के तीन तीन भेद हैं। (१) कृत—जो स्वयं किया जाय। (२) कारित—जो दूसरे द्वारा करवाया जावे। जब दूसरे को किसी पाप के आचरण करने की प्रेरणा की जाय। उदाहरणार्थ—जब कोई मांसाहारी स्वयं पशु का वध न करे परन्तु दूसरे से वध करवाए अथवा बाजार से मोल ले। (३) अनुमोदित—जब कोई दूसरा पाप करने में सम्मति मांगे तो उसे सम्मति देना, अथवा कर चुके तो उसके साथ सहमति प्रकाशित करना अथवा उसके इस मलिन व्यवहार की प्रशंसा करना। यहां सूत्रकार साधक को सचेत करते हैं कि वह केवल हिंसादि के स्थूल आचरण में ही न उलझा रहे उसके सूक्ष्म भेदों से भी बचने की चेष्टा करे। इसी लिए सूत्रकार ने हिंसादि के तीन प्रधान

कारणों का निर्देश किया है। क्योंकि योगी जब तक इन तीनों कारणों को नहीं हटाएगा और केवल हठ से हिंसादि के स्थूल व्यवहारों का परित्याग करना चाहेगा तब तक उसको सफलता नहीं मिल सकती। इन दोषों का जब तक बीज-क्षय नहीं होगा तब तक यदि कुछ काल के लिए सफलता दीखे भी, तो भी पुनः समय पाकर पाप में प्रवृत्ति हो सकती है। हिंसा आदि के कारण तीन हैं। (१) लोभ—धन, राज्यादि के लोभ से किसी की हत्या करना, अथवा मांस और चर्म के लोभ से किसी प्राणी का वध करना। (२) क्रोध—जब कोई प्राणी कुछ हानि पहुंचाए तो क्रोध से उद्विग्न होकर उसका अनिष्ट करना। (३) मोह—पुण्य, पाप में विवेक न कर सकना, जैसे किसी विरोधी विचार, मत अथवा मज़हब वाले व्यक्ति को मार देने में पुण्य समझना। इस लिए अहिंसा आदि यमों का भली प्रकार पालन करना हो तो लोभ, क्रोध, मोह रूपी बीज को दग्ध करना अनिवार्य है। मानसिक भाव आदि के तारतम्य के आधार पर फिर हिंसादि के तीन भेद हो जाते हैं (१) मृदु (२) मध्य (३) अधिमात्र, ऐसे तीन बार तीन तीन भेद करने से हिंसादि प्रत्येक वितर्क के सत्ताईस भेद होते हैं। पुनः मृदु आदि भेदों के कारण हिंसा आदि के इक्यासी भेद हो जाते हैं।

१७. हिंसा के इक्यासी भेद

६×६=८१

मृदु आदि के तीन भेद	मृदु आदि के अवान्तर भेद	१. लोभ			२. क्रोध			३. मोह		
		१ कृत	२ कारित	३ अनुमोदित	४ कृत	५ कारित	६ अनुमोदित	७ कृत	८ कारित	६ अनुमोदित
१. मृदु	१ मृदु	„	„	„	„	„	„	„	„	„
	२ मध्य	„	„	„	„	„	„	„	„	„
	३ तीव्र	„	„	„	„	„	„	„	„	„
२. मध्य	४ मृदु	„	„	„	„	„	„	„	„	„
	५ मध्य	„	„	„	„	„	„	„	„	„
	६ तीव्र	„	„	„	„	„	„	„	„	„
३. अधिमात्र	७ मृदु	„	„	„	„	„	„	„	„	„
	८ मध्य	„	„	„	„	„	„	„	„	„
	९ तीव्र	„	„	„	„	„	„	„	„	„

प्रतिपक्ष भावना—वितर्क के दुष्परिणामों के पुनः पुनः विचार का नाम ही प्रतिपक्ष भावना है। मनुष्य हिंसा आदि द्वारा होने वाली तात्कालिक इष्ट-सिद्धि के लोभ अथवा मोह से ही ऐसे अधम कार्यों में प्रवृत्त होता है। परन्तु शास्त्र में अविश्वास, प्रमाद, अथवा विस्मृति के कारण ऐसे पाप के कालान्तर में होने वाले अनन्त दुःख का उस समय विचार नहीं करता; तभी निःशङ्क होकर पाप में प्रवृत्त होता है। यदि इस अनन्त दुःख आदि का मनन करे तो हिंसा आदि के मलिन भाव को त्यागना उसके लिए सुगम तथा स्वाभाविक हो जाय।

अनन्त दुःख फल की प्राप्ति— हिंसक जिस प्राणी का वध करना चाहता है, पहले उसकी शारीरिक चेष्टा दौड़ना आदि को बन्धन द्वारा रोकता है। फिर शस्त्र आदि के प्रहार से उसको दुःख देता है। इसके पश्चात् उसका जीवन अथवा प्राण भी हर लेता है। वध्य पशु को जिस प्रकार के क्लेश तथा यातनाएं हिंसक पहुंचाता है उसी प्रकार के अनन्त दुःख उसे भोगने पड़ते हैं। जिस प्रकार पशु को बांध कर हिंसक उसकी सामर्थ्य तथा चेष्टाओं का नाश किया करता है उसी प्रकार उसके चेतन अचेतन शरीरों की भोग-सामग्री को भोगने का सामर्थ्य क्षीण हो जाता है। पशु को दुःख देने से वह नरक, एवं पशु, प्रेत आदि योनियों में अनन्त दुःख उठाता है। पशु के प्राण अपहरण करने के बदले में वह मृत्यु-शय्या पर पड़ा हुआ असह्य वेदना का अनुभव करता है और चाहता है कि उसके प्राण किसी प्रकार शीघ्र छूट जाएँ; परन्तु प्राणापहरण जन्य पाप का फल नियत होने से इस प्रकार छटपटाने पर भी उसके प्राण समय से पूर्व नहीं निकलते।

अज्ञान रूपी पाप के फल का शीघ्र ही प्रकरण के अनुसार अन्य स्थल पर निरूपण किया जाएगा।

कायिक, वाचिक, मानसिक पापों का फल—इस प्रकार व्यास-भाष्य में हमने देखा है कि घातक जिस प्रकार के कष्ट वध्य प्राणी को देते हैं उन्हीं के समान दुःख उन्हें भी भोगने पड़ते हैं। इसी प्रकार कायिक आदि पापों के अनुरूप फलों का विधान हमें मनुस्मृति में मिलता है।

> "मानसं मनसैवाऽयमुपभुङ्क्ते शुभाशुभम्।
> वाचा वाचा कृतं कर्म कायेनैव च कायिकम्॥ मनु० १२, ८
> त्रिविधं च शरीरेण वाचा चैव चतुर्विधम्।
> मनसा त्रिविधं कर्म दशाधर्मपथांस्त्यजेत्॥" १२, ८ (क)

"मनुष्य मन से किये हुए शुभाशुभ कर्मों के फलों को मन से, वाणी से किए हुए वाणी से और शरीर से किये हुए शरीर से ही दृष्टादृष्ट जन्मों में भोगता है।"

> "शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः।
> वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम्॥ मनु० १२, ९
> शुभैः प्रयोगैर्देवत्वं व्यामिश्रैर्मानुषो भवेत्।
> अशुभैः केवलैश्चैव तिर्यग्योनिषु जायते॥" मनु० १२, ९ (क)

"जिस मनुष्य ने शारीरिक पाप कर्म बहुत किया है वह वृक्ष, लता, गुल्म आदि स्थावर योनियों को प्राप्त होता है। वाचिक पाप कर्मों की अधिकता से पशु पक्षियों की योनियों में उत्पन्न होता है। और मानसिक पापों की अधिकता से चण्डालादि मानुषी योनियों में जन्म लेता है। मन, वाणी तथा काया के शुभ कर्म अधिक होने से देवत्व, शुभाशुभ मिश्रित होने पर मनुष्यत्व और केवल अशुभ होने से पशुपक्षी आदि की योनियों में मनुष्य को जन्म मिलता है। अत एव इन अनन्त उत्कृष्ट अपकृष्ट कर्मज गतियों का ध्यान रखते हुए मनुष्य को सदा धर्म कार्य ही करने चाहिएँ। यथा.—

"एता दृष्ट्वाऽस्य जीवस्य गतीः स्वेनैव चेतसा।
धर्मतोऽधर्मतश्चैव धर्मे दध्यात् सदा मनः॥" मनु० १२ २३

"इस जीव की इन धर्माधर्म से होने वाली उत्तम, मध्यम तथा अधम गतियों की ओर भली भांति ध्यान देकर मनुष्य सदा धर्मसञ्चय में ही मन को लगावे।"

मनुस्मृति के १२ वें अध्याय में ४० वें श्लोक तक कर्म के फल का सविस्तर निरूपण है यहां स्थानाभाव होने के कारण नहीं लिखा गया। जिसको अधिक जानने की इच्छा हो वह वहां देख सकता है।

१८. ईश्वरीय शासन तथा कर्मचक्र

योगदर्शन तथा मनुस्मृति के उपर्युक्त वाक्यों से यह निश्चित निर्णय होता है कि कर्मचक्र बलवान् है, इसकी शक्ति अप्रतिहत है। भौतिक तथा आध्यात्मिक जगत् में एक ही सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी ईश्वर का साम्राज्य है। भौतिक विज्ञान के वेत्ता प्रसिद्ध विद्वान् भौतिक जगत् के नियमों का अन्वेषण करके उनके अनुसार भौतिक पदार्थों का उपयोग करके अभीष्ट सिद्धि को पाते हैं। इन नियमों को उल्लङ्घन करने का किसी में सामर्थ्य नहीं है और न तो ऐसा करने का विचार एक क्षण के लिए भी किसी के मस्तिष्क में आ सकता है। न वह ऐसा करने का कभी साहस कर सकता है। यदि कोई इन निश्चित भौतिक सिद्धान्तों को उल्लङ्घन करने का दु:साहस करता है तो वह अपने पागलपन को ही सिद्ध करता है। जिस प्रकार भौतिक जगत् में ईश्वर का साम्राज्य है, इसी प्रकार आध्यात्मिक जगत् में भी उसी अत्यन्त शक्तिसम्पन्न शासक का राज्य है। कठोपनिषद् में इसका अति सुन्दर वर्णन है, जिसका मनन मनुष्य के आसुरी स्वभाव को दबाने के लिए अङ्कुश का काम दे सकता है और प्रमादियों की पाशविक, जगत् संहारकारक प्रवृत्तियों को नियमन करके उनको सन्मार्ग पर ला सकता है, जिस में उनका तथा संसार का हित है। वे वचन नीचे दिये जाते हैं —

"भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥ कठ० ६,३
यदिदं किञ्च जगत् सर्वं प्राण एजति निःसृतम्।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥" कठ० ६,२

यह सम्पूर्ण विश्व सब प्राणियों के प्राण स्वरूप परमेश्वर से उत्पन्न होता है। यद्यपि स्थूल रूप में चर्म-चक्षुओं से वह सर्व नियामक प्रभु देहधारी राजा के समान दृष्टिगोचर नहीं होता तथापि जगत् की नियमित उत्पत्ति स्थिति में निहित उसकी सत्ता ज्ञान-चक्षु से स्पष्ट प्रतीत होती है। इस सर्व नियामक नियम को ही उस सर्वान्तर्यामी भगवान् का देह समझना चाहिए। यदि कोई प्रश्न करे कि उसकी सत्ता तथा अद्‌भुत सामर्थ्य कहां है तो इसके उत्तर में हम उपरिलिखित कठोपनिषद् की श्रुति के शब्दों का ही अनुवाद करते हैं। "उस परम नियामक सर्वाधिपति परमेश्वर के शासन भय से ही अग्नि तपता है, वह अपने तपन रूपी कार्य को नहीं छोड़ता। दिन हो या रात, ग्रीष्म ऋतु हो या शीत, सतयुग हो या कलि, सब काल तथा सब अवस्थाओं में उस ईश्वरीय शासन में नियन्त्रित अपने नियत कार्य से स्खलित नहीं होता। उसी के नियम का पालन करता हुआ सूर्य अपने नियत समय पर उदय और अस्त होता है तथा तपता है। सर्वैश्वर्य सम्पन्न देवराज इन्द्र, सर्वत्रगामी बलवान पवन, और सब का संहार करने वाला मृत्यु भी उसी के भय से अपनी-अपनी परिधि में अपने नियत कार्य में संलग्न रहते हैं। इस प्रकार की महान् बल-शालिनी दिव्य शक्तियां भी उस सर्वेश्वर रुद्र के शासन रूपी वज्र से भय ग्रस्त रहती हैं, क्योंकि उन्हें यह शासन रूपी वज्र सर्वदा अपने सिर पर उद्यत दीखता है। इसलिए उनमें उसके शासन के अतिक्रमण करने का साहस नहीं होता। जो पुरुष इस भौतिक आदि जगत् के अद्वितीय, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, ईश्वर के यथार्थ स्वरूप को जानते हैं वे अमृत पद को प्राप्त होते हैं।" उनको मृत्यु का फिर कोई भय नहीं रहता, क्योंकि वे जगत् नियन्ता के आदेशों के उल्लङ्घन का स्वप्न में भी कभी विचार नहीं ला सकते। वे यह भली भांति जानते हैं कि चतुर मनुष्य लोभ के वश होकर निर्बलों के अन्न, धन तथा प्राण हरकर अपनी चतुराई से समाज तथा राज्य के दण्ड से बच सकते हैं और भोले मनुष्यों में अपने धर्मभाव के लिए कीर्ति भी प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु इतने सामर्थ्य तथा चतुराई के होते हुए भी वे सर्वज्ञ ईश्वर को धोखा नहीं दे सकते। ऐसा सन्देह रहित ज्ञान रखते हुए वे कैसे किसी प्राणी का किसी प्रकार का अनिष्ट कर सकते हैं अथवा उसके प्राण हरण कर सकते हैं, जिसके फल स्वरूप उनको अनन्त दुःख तथा प्राणों के वियोग का कष्ट सहना पड़े। अतः ऐसा मनुष्य दुःख तथा मृत्यु पर पूर्ण विजय प्राप्त कर लेता है। हिंसा आदि पाप तथा पाप के फल, दुःख से बचने के लिए मनुष्य को उपर्युक्त मन्त्रों के भाव को सदा मनन करना चाहिए कि "सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी ईश्वर सदा मेरे हृदय में विराज-मान हैं, एवं मेरे मनोभावों को देखते हैं और किसी बड़े से बड़े राजा, धनी, शूर, विज्ञ पण्डित में भी यह सामर्थ्य नहीं है कि वह ईश्वरीय कर्मफल नियमरूपी सुदर्शनचक्र के विरुद्ध आचरण कर सके फिर साधारण जन का तो कहना ही क्या है। तथा सदा भगवान् से प्रार्थना करनी चाहिए:—

"असतो मा सद्‌गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्माऽमृतं गमयेति"— ब्राह्मण ग्रन्थ स्वयं इस वचन के तिरोहित अर्थ की व्याख्या में कहता है कि असत् अथवा तम का अर्थ मृत्यु है, अतः इन तीन वचनों द्वारा यही प्रार्थना की गयी है कि भगवन् मुझे मृत्यु से अमृत की ओर ले चलो। मृत्यु का कारण बना रहने से तो मनुष्य मृत्यु से कदापि नहीं बच

सकता। अतः यहां मृत्यु का अभिप्राय हिंसा आदि क्रूर कर्मों से है, जिनके लिए शास्त्र उपदेश अथवा अन्य किसी शिक्षा की आवश्यकता नहीं। इन कर्मों में जैसे पशुओं की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है उसी प्रकार मनुष्यों की भी होती है। अमृत का अर्थ अमृतत्व प्राप्ति के साधन शास्त्रोपदिष्ट अहिंसा सत्यादि धर्म से है। इसलिए इस प्रार्थना का यह अभिप्राय है कि मनुष्य को पाप से बचने तथा धर्माचरण के लिए प्रार्थनादि द्वारा दृढ़ भावना करनी चाहिए।

१६. भौतिक विज्ञानवाद के आक्षेप का उत्तर

परन्तु यहां नवीन भौतिक-विज्ञान-वाद के अनुयायी यह शङ्का करते हैं कि सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि भौतिक पदार्थों को सुव्यवस्थित रखने वाली नियामक शक्ति जड़ है। और यह शक्ति इन भौतिक पदार्थों का स्वभाव है जिसका अन्वेषण करके हम उसे घोड़े आदि पशुओं के समान अपने अधीन कर सकते हैं और अपने उपयोग में ला सकते हैं। भयङ्कर नद-नदियों पर पुल बांधकर निर्भयता पूर्वक उन्हें पार कर सकते हैं। हवाई जहाज बनाकर ऊंचे पहाड़ों की कुछ परवाह न करके उन पर उड़ान ले सकते हैं। इन भौतिक नियमों में यह सामर्थ्य नहीं कि वे यत्किञ्चित् भी इधर उधर हो सकें। ये चेतन के समान स्वतन्त्र प्रतीत नहीं होते। इन या इन से मिलते जुलते जो आक्षेप किये जाते हैं उनका समाधान इस प्रकार है—इस में कोई सन्देह नहीं कि भौतिक जगत् के नियम अपरिवर्तन-शील हैं। मनुष्य के भावों, विचारों तथा नियमों की तरह ये नित्य बदलते नहीं रहते। ये नियम एकरस और पक्षपात रहित हैं, अपने पराए, शत्रु-मित्र का विवेक नहीं करते। चाहे अग्नि में कोई घी डाले या थूके यदि किसी का हाथ उस में पड़ जाएगा तो दोनों का हाथ एक समान ही जलेगा। दोनों चाहें तो अग्नि से एक समान लाभ उठा सकते हैं। अग्नि इस में विवश है। किसी पर विशेष कृपा नहीं कर सकती और न किसी के निरादर करने पर उस का कुछ बिगाड़ ही सकती है। परन्तु इस प्रकार का कथन आजकल के भौतिक वादियों की भूल का परिणाम है, जो इस समत्व को जड़ता का नाम देते हैं। राग-द्वेष, प्रेम-कोप, कृपा-उपेक्षा आदि के वश होकर क्षण-क्षण में अपने नियमों का परिवर्तन करते रहना अल्पज्ञ तथा कामादि मानसिक विकारों से युक्त चेतन प्राणी का स्वभाव है। चेतनमात्र का यह स्वभाव नहीं है। यह तो इसी प्रकार की भूल है जैसे मानो मनुष्य का विवेक शून्य बालक अपने ही मलमूत्र से क्रीड़ा करे तो ऐसा करने को मनुष्य मात्र का स्वभाव मान लिया जावे और यदि विवेक सम्पन्न कोई बड़ा मनुष्य ऐसा व्यवहार न करे तो ऐसा करने के कारण ही उसे मनुष्य न माना जाय। इसी प्रकार भौतिक जगत् की नियामक सत्ता यदि दिन रात नियम परिवर्तन नहीं करती, काले और गोरे का भेद न करती हुई सब के साथ समान वर्ताव करती है तो इस व्यवहार से वह जड़ सिद्ध नहीं हो जाती। प्रत्युत इस से तो यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह महान् शक्ति सर्वज्ञ, पक्षपात रहित तथा गम्भीर है, जो राग-द्वेष से क्षुब्ध होकर अपने नियमों का परिवर्तन नहीं करती। परन्तु यह बात अवश्य है कि जो उन नियमों की उपेक्षा करता है वह समय पर अवश्य उसके दुष्परिणाम को भोगता है।

"य एको जालवानीशत ईशनीभिः सर्वांल्लोकानीशत ईशनीभिः ।
य एवैक उद्भवे सम्भवे च य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥" श्वेता० ३,१

"जो एक अद्वितीय परमात्मा जगत् रूप जाल की रचना करने वाला अपनी स्वरूपभूत शक्तियों द्वारा उस पर शासन करता है तथा सर्व लोकों तथा लोकपालों का संचालन करता है जो जगत् की सृष्टि तथा विस्तार में समर्थ है, जो इस ब्रह्म को जान लेते हैं वे अमर हो जाते हैं।"

"यदिदं किं च जगत् सर्वं प्राण एजति निःसृतम् ।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥" कठ० २,३,२

यह सम्पूर्ण जगत् जो ब्रह्म से निकला हुआ है, जो उस प्राण स्वरूप आत्मा में चेष्टा करता है, जो उस उठे हुए वज्र के समान भयस्वरूप परमात्मा को जानते हैं वे अमर हो जाते हैं।"

२०. पापियों के वर्तमान कालीन ऐश्वर्य को देखकर धर्मफल में सन्देह की निवृत्ति

यहां इस प्रसङ्ग में प्राकृत जनों को कुमार्ग में ले जाने वाला एक सन्देह उत्पन्न होता है, जिस का संक्षिप्त विचार आवश्यक प्रतीत होता है। लोग प्रायः ऐसा कहते हैं कि यद्यपि अध्यात्म-शास्त्र ऐसी सर्वान्तर्यामी, न्यायकारी, सर्वशक्तिमती सत्ता का निरूपण करता है, जिस के साम्राज्य में राजा, रङ्क सब अपने अपने कार्य का नियत फल पाते हैं। जिसका विधान श्रुति स्मृति में स्पष्ट वर्णित है:—

"धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ॥" मनु० ८,१५

"धर्म का अतिक्रमण करने वाले व्यक्ति को धर्म इष्टानिष्ट सहित नष्ट कर देता है। धर्मानुष्ठान ही धर्मात्मा की हर प्रकार से रक्षा करता है। इसलिए धर्म का हनन-अतिक्रमण कभी नहीं करना चाहिए, क्योंकि धर्म का अतिक्रमण अपने नाश का हेतु होता है। ऐसा न हो कि अपमानित किया गया धर्म कहीं हमारा ही नाश करदे।"

परन्तु हम संसार में दिन रात इसके विपरीत घटनाएं देखते हैं। धर्म के अनुकूल आचरण करने वाले भूखों मरते हैं, जब कि पाप-अत्याचार करने वाले संसार में सब प्रकार के सुख वैभव को भोगते हैं। ऐसे सज्जनों के इस सन्देह की निवृत्ति के लिए हम मनु महाराज के निम्न लिखित श्लोक उद्धृत करते हैं:—

"अधार्मिको नरो यो हि यस्य चाप्यनृतं धनम् ।
हिंसारतश्च यो नित्यं नेहासौ सुखमेधते ॥ मनु० ४,१७०
न सीदन्नपि धर्मेण मनोऽधर्मे निवेशयेत् ।
अधार्मिकाणां पापानामाशु पश्यन् विपर्ययम् ॥ ४,१७१

नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव ।
शनैरावर्त्यमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति ॥ ४,१७२
यदि नात्मनि पुत्रेषु न चेत् पुत्रेषु नप्तृषु ।
न त्वेव तु कृतोऽधर्मः कर्तुर्भवति निष्फलः ॥ ४,१७३
अधर्मेणैधते तावत् ततो भद्राणि पश्यति ।
ततः सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति ॥ ४,१७४
परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ ।
धर्मं चाप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेव च ॥" ४,१७६

"जो नर अधार्मिक है, असत्य ही जिसका धन है, जो हिंसा मे सदा रत है, ऐसा मनुष्य संसार में कभी सुख का भागी नहीं बनता (१७०)। धर्म पथ का आचरण करते हुए धनादि के अभाव मे अनेक प्रकार के कष्ट सहन कर ले, परन्तु अधार्मिक पापाचारियों की पापाचरण के द्वारा धन, सम्पत्ति की शीघ्र प्राप्ति को देखते हुए भी धर्म-मार्ग से अपनी बुद्धि को विचलित न करे, अर्थात् यह न समझे कि धर्म से दुःख और अधर्म, असत्य, चोरी आदि से सुख तथा ऐश्वर्य की वृद्धि होती है। इसलिए उसे कदापि अधर्म-मार्ग मे प्रवृत्त नहीं होना चाहिए (१७१)। शुभाशुभ कर्मों के फल का विपाक नियत समय पर ही होता है। अधर्म किया हुआ तत्काल ही फल नहीं देता। जैसे भूमि मे डाला हुआ बीज नियत समय के पश्चात् ही अङ्कुरित, पुष्पित तथा फलित होता है। ऐसे ही अधर्म भी समय पाकर ही फलोन्मुख होता है। फलोन्मुख होने पर अधर्म पाप कर्ता को समूल नष्ट कर देता है अर्थात्, धन, जन, देह तथा सम्पत्ति सहित उसका सर्व नाश कर देता है (१७२)। यदि पापाचारी के अपने देह धन आदि नाश नहीं होता तो उसके पुत्र उसके पाप कर्म का फल पाते हैं। यदि वे भी किसी विशेष सुकृत के प्रभाव से बच जाएं तो उसके पोते उस पाप के फल को भोगते हैं। तात्पर्य यह है कि किया हुआ पाप कभी निष्फल नहीं होता। दृष्टादृष्ट जन्मों मे पापी को अपने किये पाप का फल अवश्य भोगना पड़ता है (१७३)। परद्रोह आदि अधर्माचरण आदि से पहले पापी कुछ बढ़ता है, धन, धान्य, भृत्य, पशु आदि सम्पत्ति को प्राप्त करता है। शत्रुओं को भी जीतता है; परन्तु अन्ततः पाप-कर्म की परिपाकावस्था होने पर शीघ्र ही देह, धन, सम्पत्ति आदि सहित उसका सर्वस्व नाश हो जाता है। यहां तक कि जगत् मे उसका नाम निशान तक नहीं रहता (१७४)। कल्याण की कामना करने वाले को धर्म वर्जित अर्थ तथा काम का सर्वथा सर्वदा त्याग ही करना चाहिए। परम कल्याण विहीन दिखाऊ धर्म भी त्याग करने योग्य है (१७६)। हां, युग धर्म के अनुसार श्रौत तथा स्मार्त धर्मों का अपने-अपने वर्णाश्रमोचित विधि पूर्वक निष्काम भावना से सदा अनुष्ठान करना अत्यन्तावश्यक है। धर्म के मर्म को जानने वाले सज्जनो का कथन है किः—

"सुखार्थाः सर्वभूतानां मताः सर्वाः प्रवृत्तयः ।
सुखञ्च न विना धर्मात्तस्माद्धर्मपरो भवेत्" ॥

"सब प्राणियों की सब प्रवृत्तियां केवल सुख के लिए होती हैं। परन्तु सुख धर्म के बिना कभी नहीं हो सकता, अर्थात् सुख धर्मानुष्ठान से ही होता है। अतः सुखाभिलाषी को चाहिए कि वह सदा धर्म परायण होवे। उस परम दयालु भगवान् के नियम का चक्र अटल है और सदा एक रस घूमता है। पापियों को अपने पापों का फल शीघ्र अथवा विलम्ब से अवश्यमेव भोगना ही पड़ता है, बिना भोगे उस का क्षय नहीं होता।

"Though the mills of God grind very slowly yet they grind exceedingly small"

यद्यपि ईश्वर की चक्की शनैः २ पीसती है परन्तु वह पीसती बहुत बारीक है"।

२१. धर्मनिष्ठा

कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय केवल तात्कालिक सुख-दुःख अथवा अपने ध्येय की सिद्धि-असिद्धि के आधार पर नहीं किया जा सकता प्रत्युत प्रत्यक्ष फल सम्बन्धी विचार-धारा के प्रभाव से रहित हो कर, ईश्वरीय ज्ञान वेद के द्वारा प्रदर्शित, अटल, त्रिकाला बाध्य सत्य तथा न्याय के आधार पर किया हुआ धर्माधर्म का निर्णय ही उपयुक्त होता है। इसी मे व्यक्ति तथा समाज का वास्तविक हित निहित है।

"न कर्तव्यमकर्तव्यं प्राणैः कण्ठगतैरपि।
कर्तव्यमेव कर्तव्यं प्राणैः कण्ठगतैरपि॥

"यदि प्राण तथा जीवन भी सकट मे पड़ जाएं तो भी पाप का आचरण नहीं करना चाहिए, क्योंकि पाप तो सदा पाप ही है। विपत्ति मे ही मनुष्य की धार्मिक स्थिति का पता चलता है। यदि धर्म का फल प्रत्यक्ष तत्काल सुख मिलता हो तो कौन ऐसा पागल होगा जो कुमार्ग मे फंसेगा। "धीरज, धर्म, मित्र अरु नारी, आपत काल परखिए चारी।"

२२. मनु का उपदेश

धर्म का महत्व प्रतिपादन करने वाले मनुस्मृति के कुछ श्लोक यहां उद्धृत किये जाते हैं:—

"धर्मं शनैः सञ्चिनुयाद् वल्मीकमिव पुत्तिकाः।
परलोकसहायार्थं सर्वभूतान्यपीडयन्॥ मनु ४,२३८

नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः।
न पुत्रदारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः॥ ४, २३९

एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते।
एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम्॥ ४, २४०

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्ठसमं क्षितौ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति॥ ४, २४१

तस्माद्धर्मं सहायार्थं नित्यं सञ्चिनुयाच्छनैः ।
धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम् ॥ ४. २४२

धर्मप्रधानं पुरुषं तपसा हतकिल्बिषम् ।
परलोकं नयत्याशु भास्वन्तं खशरीरिणम् ॥ ४. २४३

"किसी प्राणी को पीड़ा न देता हुआ मनुष्य परलोक की सहायता के लिए शनैः शनैः धर्म का सञ्चय करे, जैसे दीमक धीरे-धीरे मृत्तिका राशि का सञ्चय कर लेती है (२३८)। क्योंकि माता, पिता, स्त्री, पुत्र, तथा अन्य सम्बन्धी और धनादि ये सब परलोक में सहायक नहीं होते वहां केवल धर्म ही सहायक होता है। इसलिए धर्मानुष्ठान पुत्रादि से भी महोपकारक है (२३९)। प्राणी अकेला ही उत्पन्न होता है, बान्धवों के साथ नहीं, और अकेला ही मृत्यु को प्राप्त होता है और अकेला ही अपने पुण्य पाप के फल स्वर्ग नरक आदि का उपभोग करता है। अतः पुत्र पत्नी के लिए भी धर्म का त्याग न करे (२४०)। मृत-प्राणी के सम्बन्धी पिता पुत्रादि उसके शरीर को काष्ठ लोष्ठ के समान भूमि पर फैंक देते हैं और आप उससे मुख फेर कर घर लौट आते हैं। उस समय केवल धर्म ही उसके साथ जाता है (२४१)। मनुष्य केवल धर्मानुष्ठान से ही दुस्तर नरक आदि से तर जाता है। इसलिए परलोक-सहायार्थ सर्वदा शनैः-शनैः धर्म का अनुष्ठान करना चाहिए (२४२)। जिस मनुष्य ने धर्मानुष्ठान से अपने सब पापों को नष्ट कर दिया है उस धर्म प्रधान तेजस्वी पुरुष को देहावसान के पश्चात् धर्मानुष्ठान रूप पुण्य सञ्चय ब्रह्मलोक में ले जाता है (२४३)।" क्योंकि "धर्मेण पापं नुदति पुमान्" धर्मानुष्ठान से मनुष्य पाप का ध्वंस करता है। स्मृति में भी कहा गया है कि:—

"न हि वेदाः स्वधीतास्तु शास्त्राणि विविधानि च ।
तत्र गच्छन्ति यत्रास्य धर्म एको ऽनुगच्छति ॥"

"वेदों तथा अन्य विविध शास्त्रों के केवल अध्ययन-अध्यापन की वहां पर पहुंच नहीं जहां पर एक मात्र धर्मानुष्ठान मनुष्य को ले जाता है।" अतः कल्याणाभिलाषी के लिए अत्यन्त आवश्यक है कि वह अपने वर्णाश्रमोचित विहित धर्म का सर्वदा ईश्वरार्पण बुद्धि से आचरण करता रहे। अन्यथा कल्याण की आशा निराशा रूप में ही परिवर्तित हो जाएगी।

२३. असुरोपदेश की चरितार्थता और वर्तमान-कालिक मनुष्यों को चेतावनी

इस प्रकार प्रजापति ने असुरों को दया अर्थात् अहिंसा का उपदेश दिया। क्योंकि जो हिंसा परायण है, वह बल तथा कूट-नीति के सहारे हर समय दूसरों से अन्न धन छीनने को उद्यत रहता है एवं एक पाई अथवा कौड़ी तक के लिए भी कई प्रकार से असत्य भाषण करता नहीं लजाता, प्रत्युत अपने असत्य, कुटिल, कृत्रिम व्यवहार तथा चालाकी का वर्णन अपनी मित्र-मण्डली में अभिमान पूर्वक करता है, और अपने तमोगुणी दूषणों को ही भूषण समझे बैठा है, जो धन के लोभ तथा क्रोध के आवेश में उस महान्

अखण्ड, अटल, ईश्वरीय न्यायरूपी भयानक वज्र को भूल जाता है, जिसे मूक प्राणियों का मास ही भोजन मे सर्वाधिक प्रिय लगता है, जो अनाथ निस्सहाय बालको, विधवाओं का सर्वस्व हडप कर जाता है और डकार तक नहीं लेता, जो "Every thing is fair in Love and war." (प्रेम और युद्ध मे घृणित और अति नीच व्यवहार भी परम न्याय ही है) इस उक्ति मे तनिक सन्देह नहीं करता अपितु इसे परम प्रमाण मान कर इसी के अनुसार अपना सब व्यवहार करता है, जो पशुओं के समान अपने देश या जाति की ऐहिक हित-सिद्धि को ही परम सत्य तथा परम धर्म मानता है और इस सङ्कुचित आदर्श को ही सर्वश्रेष्ठ मान कर निर्बल, निस्सहाय शस्त्रहीन जातियो तथा देशों को उन्नत करने मे अपने बाहु-बल तथा बुद्धि का उपयोग न करके उलटे उन्हें दासता की कडी जञ्जीरो मे जकड़ने और उनके धन, जन की लूट खसूट करने मे ही अपनी शक्ति-सामर्थ्य के दुरुपयोग द्वारा निज सभ्यता की विजय पताका फहराता है। यथा—

"Science tells us how to heal and how to kill; it reduces the death rate in retail and then kills us wholesale in war"

"विज्ञान हमे बचाने तथा मारने की युक्ति बताता है, पहले वह मृत्यु सख्या को वैयक्तिक रूप मे कम करके पीछे युद्ध-द्वारा सामूहिक रूप मे हमे मार देता है।" ऐसा मलिन चित्त वाला व्यक्ति या समाज किसी ऊचे उपदेश को कैसे हृदयङ्गम कर सकता है। यद्यपि अहिंसा अध्यात्मविद्या का प्रथम अक्षर है, तथापि अबोध बालक की शिक्षा का आरम्भ भी यहीं से होगा। केवल भाषा के अपूर्व ज्ञान द्वारा किसी भौतिक विद्या मे प्रवीणता प्राप्त कर लेने से एवं दूसरो को मर्म-भेदी उपदेश कर सकने की योग्यता से और अपने कुटिल हिंसामय व्यवहार को भी अनेक युक्त्याभासों द्वारा धर्म सिद्ध करने से ही कोई अध्यात्मविद्या मे वृद्ध नहीं हो जाता।

आज का सभ्य मनुष्य यदि अपने हृदय की गहरी गुफा मे निष्पक्ष भाव से देखे तो उसको स्पष्ट प्रतीत होगा कि आज की सभ्य कहलाने वाली मानव जाति कहां खड़ी है। और उसकी गणना किस श्रेणी मे की जा सकती है। सर्वव्यापी मृत्यु तथा अकाल से पीड़ित, अशान्त तथा नरकमय यह संसार, सभ्यताभिमानिनी जाति की आध्यात्मिक दरिद्रता का स्पष्ट तथा असन्दिग्ध प्रमाण है। यदि आज का मनुष्य आध्यात्मिक शिक्षा के इस प्रथम अक्षर अहिंसा को अपना लेता तो निस्सन्देह पृथिवी यदि स्वर्ग न भी बन पाती तो भी नरक तो न रहती। ऐसी स्थिति मे हमारे दुःखो तथा अशान्ति का अवश्य अन्त हो जाता।

जब मनुष्य इस प्रथम श्रेणी की शिक्षा मे दक्ष हो जाता है तो उसका हृदय कुछ उज्ज्वल और बुद्धि कुछ स्वच्छ तथा सूक्ष्म हो जाती है, तब वह दूसरी शिक्षा की योग्यता तथा अधिकार को प्राप्त करता है।

२४. अहिंसा व्रत द्वारा आध्यात्मिक उन्नति

अहिंसा व्रत को धारण करने वाला आसुरी भाव से मुक्त हो जाता है। और पूर्व-वर्णित प्रजापति की मनुष्य श्रेणी मे प्रवेश करता है। हिंसा को छोड़ देने पर मनुष्य

दूसरों के अन्न, धन तथा प्राणों पर बलात्कार नहीं करता। तब उसकी जीवन नीति का दृष्टिकोण बदल कर "Live and let live" (स्वयं जीवित रहो और दूसरों को भी जीवित रहने दो) इस सिद्धान्त पर आश्रित हो जाता है। पहले जो दूसरों के अन्न-धन को छीन लेना ही ठीक मानता था अब वह वैसा नहीं करता। वह अन्न-धन का न्यायानुसार उपार्जन करता है। क्योंकि न्यायानुकूल अन्न-धनादि का उपार्जन करना पाप नहीं है। स्वयं वेद भगवान् आदेश करते हैं "वयं स्याम पतयो रयीणाम्" हम धन धान्य के स्वामी बनें। परन्तु छल, कपट तथा धूर्तता से किसी की एक पाई की भी वञ्चना न करें, इत्यादि।

अब वह हिंसा वृत्ति के आधार पर दूसरों को दुःख नहीं देता, अपना तथा अपने परिवार का न्याय से भरण पोषण करता है, एवं न्याय पूर्वक ही धन संग्रह भी करता है, दूसरों से छीनता नहीं। परन्तु किसी दरिद्र, दुःखी के दुःख निवारण के लिए उसके हृदय में कोई भाव उत्पन्न नहीं होता। धन मे उसकी इतनी आसक्ति तो नहीं होती कि वह बलात्कार दूसरों का धन छीन ले परन्तु अपने उपार्जित धन का दूसरों के हितार्थ व्यय कर सकना भी उसके लिए दुष्कर है। इतना धन का लोभ उसमे अवश्य है। कि स्वयं दुःखग्रस्त होने पर दूसरों से सहायता की आशा तो वह करता है। परन्तु अवसर आने पर लोभ के वश अपने आप दूसरे की सहायता नहीं करता।

२५. मनुष्य-शिक्षा—लोभत्याग (दान)

२६. मनुष्य के न्यायोपार्जित धन-धान्य में प्राणिमात्र का भाग

हिंसा-वृत्ति को त्याग देने के पश्चात् उपर वर्णित मानसिक-वृत्ति के उत्पन्न हो जाने पर जब मनुष्य दूसरे के धन को छल कपट से छीनता तो नहीं परन्तु न्यायोपार्जित अपने धन को दूसरे के लिए त्याग नहीं कर सकता, ऐसे लोभी स्वभाव वाले मनुष्य के लिए ही प्रजापति ने दूसरे 'दकार से' "दान करो" यह उपदेश दिया है। क्योंकि केवल अहिंसा के आचरण से ही संपूर्ण दुःख की निवृत्ति नहीं होती। यदि हम दूसरों से दुःख मे सहायता की आशा रखते हैं तो हमें भी चाहिए कि हम दूसरों के दुःख में उसकी सहायता करें। हमारे न्यायोपार्जित धन-धान्य पर जैसे हमारी सन्तान का अधिकार है वैसे ही हमारे सर्वस्व पर प्राणिमात्र का अधिकार है। यदि हम लोभ के वश, अपने न्यायोपार्जित धन-धान्य में से यथोचित भाग योग्य अधिकारियो को नहीं देते तो यह भी एक प्रकार का सूक्ष्म-अन्याय, चोरी, हिंसा तथा पाप है। केवल दूसरों के धन-धान्य का छल कपट से अपहरण करना ही हिंसा नहीं है। अतः दान के लिए भी आय से शास्त्रानुसार निश्चित भाग निकालना चाहिए। क्योंकि वेद भगवान् का उपदेश है—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥" (यजुः, अध्याय ४०,१)

इस सदा चलायमान जगत् मे ईश्वर ही सर्वत्र व्यापक है। वही सब का स्वामी, सर्वाधार, सर्वनियन्ता तथा सर्वान्तर्यामी है। समग्र धन, धान्य, ऐश्वर्य तथा सम्पत्ति आदि का सच्चा स्वामी वही है। अतः किसी भी प्राणी या किसी वस्तु पर स्वतन्त्र स्वत्व

नहीं है। बड़े-बड़े चक्रवर्ती राजे-महाराजे भी उसी भगवान् के दिये हुए महान् ऐश्वर्य का कुछ काल पर्यन्त उपभोग करते हैं। नहीं तो नियत समय के पश्चात् विवश होकर वे अपने अपने पद से क्यों च्युत हो जाते तथा मृत्यु के मुख में चले जाते ? इच्छा पूर्वक तो कोई भी प्राणी न मरना ही चाहता है और न अपने स्वत्वाधिकार से च्युत होने की स्पृहा करता है। इसलिए प्रभु की दान रूप में दी हुई वस्तुओं पर अपना स्वतन्त्र अधिकार न स्थापित करते हुए निर्धन अधिकारियों की सेवा में अपने धन-धान्य को लगा देना चाहिए और इसमें अपना हित समझना चाहिए। भगवान् ने उनका भाग भी तुम्हें दिया है और अपनी ओर से तुम्हें उनका कोषाध्यक्ष नियत कर दिया है। यदि तुम धन-धान्य को उस में न लगाओगे, जिस कार्य के लिए यह तुम्हें दिया गया है, उसमें व्यय न करोगे तो पाप के भागी बनोगे। भगवान् की इस धरोहर का स्वार्थपरता के कारण दुरुपयोग करने से अपना ही अहित होगा। सन्तो का वचन है —

"पानी बाढ़े नाव में घर में बाढ़े दाम।
दोनों हाथ उलीचिये यही सयानो काम॥"

इसी को भगवान् कृष्ण इस प्रकार स्पष्ट करते हैं:—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥" (गीता ३, १३)

"जो मनुष्य यज्ञ (परोपकार) से अवशिष्ट अन्न को खाने वाले हैं वे धनोपार्जन में होने वाले अनिवार्य हिंसादि पापों से मुक्त होजाते हैं। परन्तु जो निर्बुद्धि, स्वार्थपरायण केवल अपने लिए ही अन्न पकाते हैं; अतिथि, याचक, गौ आदि को दानरूप से कुछ नहीं देते, वे अपवित्र अन्नरूप पाप को ही खाते हैं। न्यायोपार्जित धन, धान्य की नियत मात्रा यदि क्षुधा पीड़ितो पर व्यय नहीं की जाती तो यह उनके भाग का बलात्कार हरण करना ही है। क्योंकि भूमि प्राणिमात्र की जननी है, वह सब के लिए अन्न उत्पन्न करती है। उसकी सम्पत्ति पर सब का अधिकार है। निर्बल, अनाथ, अबला, वृद्ध, रोगी आदि सब अन्न, वस्त्र, औषध आदि के अधिकारी हैं।

२६. दानलक्षण—अन्यायापहृत धन दान निषेध

"न्यायार्जितधनश्चापि विधिवद् यत् प्रदीयते।
अर्थिभ्यः श्रद्धया युक्तं दानमेतदुदाहृतम्॥
अपहृत्य परस्यार्थान् यः परेभ्यः प्रयच्छति।
स दाता नरकं याति यस्यार्थास्तस्य तत् फलम्॥"

"शास्त्रविहित मार्ग से न्याय पूर्वक जो धनोपर्जन किया जाता है और उसमें से जो नियत भाग श्रद्धापूर्वक विधि अनुसार अर्थियों को दिया जाता है, वही वास्तविक दान कहलाता है। जो व्यक्ति अन्याय पूर्वक दूसरों के धन को अपहरण करके दान करता है, वह दाता नरक को जाता है और उस दान का फल जिसका धन था उसी को मिलता है।"

इसलिए धनोपार्जन मे न्याय, सत्य, सरलता, अहिंसा आदि का सम्यक्तया ध्यान रखना चाहिए, नहीं तो सिवाय हानि के कुछ लाभ नहीं होगा।

२८. दान केवल धनी के लिए ही निहित नहीं

दान धर्म के मर्मज्ञ कहते है कि —

"ग्रासादपि तदर्धश्च कस्मान्नो दीयते ऽर्थिषु ।
इच्छानुरूपो विभवः कदा कस्य भविष्यति ॥"

"यदि किसी की ऐसी अवस्था आजाय कि उसके पास केवल एक ग्रास अन्न ही रह जाय, तो उस अवस्था मे भी वह कल्याणकाङ्क्षी उस ग्रास मे से आधा ग्रास अर्थियो को दान करदे। क्योकि इच्छानुसार तो कभी भी किसी के पास धन एकत्र नहीं होगा।" इस प्रकार के आचरणाभाव मे वह व्यक्ति धर्मोपार्जन से वञ्चित रह जाएगा। और धर्म-हीन जीवन पशु के समान है। धन की सफलता धर्म के लिए व्यय करने से ही होती है। धर्म धन ही सच्ची सम्पत्ति है अन्य सम्पत्ति तो विपत्ति का सञ्चय ही है। जैसे किसी कवि का कथन है —

"आयासशतलब्धस्य प्राणेभ्योऽपि गरीयसः ।
गतिरेकैव वित्तस्य दानमन्या विपत्तयः ॥"

"बहुत प्रयत्नो से प्राप्त किये हुए प्राणो से भी प्यारे धन की वास्तविक गति तो एक मात्र दान ही है अन्य तो सब विपत्तिया ही है।" इसलिए सब अवस्थाओ मे अधिकरियों को यथोचित, यथाशक्ति दान देना श्रेयस्कर है।

"अनुकूले विधौ देयं यतः पूरयिता हरिः ।
प्रतिकूले विधौ देयं यतः सर्वं हरिष्यति ॥"

"अवस्था, परिस्थिति तथा दैव के अनुकूल होने पर अवश्य दान करना चाहिए यह विचार कर कि भगवान् ही सब को सब कुछ देने वाला है। और यदि परिस्थिति तथा दैव प्रतिकूल हो तो भी दान देना चाहिए क्योंकि भाग्य तो सब कुछ हर लेगा और तुम दान धर्म के सञ्चय से वञ्चित रह जाओगे। दान धर्म के लिए उदारता, प्रसन्नता, मधुर भाषण तथा भावना शुद्धि की अत्यन्त आवश्यकता है। क्याकि भावना ही सब धर्म कार्यों मे बीज रूप है। मनु महाराज का कथन है —

"येन येन तु भावेन यद्यद्दानं प्रयच्छति ।
तत्तत्तेनैव भावेन प्राप्नोति प्रतिपूजितः ॥ ४,२३४
योऽर्चितं प्रतिगृह्णाति ददात्यर्चितमेव च ।
तावुभौ गच्छतः स्वर्गं नरकं तु विपर्यये ॥" ४,२३५

"जो व्यक्ति जिस जिस भावना मे जो जो दान देता है वह जन्मान्तर मे उसी उसी भावना से उस उस फल को प्राप्त करता है। सकाम दानी की वह कामना पूर्ण होती है

जिसके लिए उसने दान किया था। निष्काम भाव वाले को उसका फल चित्त-शुद्धि तथा भगवत्प्रीति रूप मे प्राप्त होता है (२३४)। जो दाता सत्कार पूर्वक अर्थियो को दान देता है तथा जो लेने वाला सत्कार पुरःसर ही लेता है वे दोनों यहा और अगले लोक मे सुखी होते हैं। अपमान पूर्वक दान देने तथा लेने वाला दोनो अत्यन्त दुःखी होते हैं और नरक को प्राप्त होते हैं (२३५)।" अत. श्रद्धा, सत्कार, तथा प्रिय वाक्य सहित ही दान देना तथा लेना कल्याण प्रद है। भगवान कृष्ण गीता मे सात्त्विक, राजस तथा तामस भेद से त्रिविध दान का निरूपण करते हैं। उपयोगी होने के कारण उन श्लोकों को यहा उद्धृत किया जाता है:—

"दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥" गी० १७,२०

"जिस के चित्त मे यह भाव सदा जागरूक रहता और उसे दान देने के लिए प्रेरित करता है कि दान देना तेरा कर्तव्य है इस लिए दान कर। वह व्यक्ति देश, काल तथा पात्र के अनुसार प्रत्युपकार की भावना से रहित होकर जो दान देता है, वह दान सात्त्विक कहा गया है।"

"यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥" गी० १७,२१

"जो दान प्रत्युपकार की भावना, किसी फल को उद्देश्य करके या कृपणता वश खिन्न चित्त से दिया जाता है वह दान राजस कहलाता है।"

"अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥" गी० १७,२२

"देश-काल तथ पात्र का विचार न करके, तिरस्कार और अभिमान पूर्वक, श्रद्धा रहित तथा विधि मर्यादा की उपेक्षा करके जो दान दिया जाता है वह तामस कहलाता है।"

अपने कल्याण के लिए परहित मे जिस जिस भावना तथा कामना से प्रेरित होकर विद्या, धन, अन्न, वस्त्र, समय इत्यादि का व्यय किया जाएगा उसका तदनुरूप ही यहां तथा आगे फल होगा। इसलिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि निःश्रेयसाकाङ्क्षी सदा सर्वथा शुद्ध सात्त्विक भाव से प्रेरित होकर दान देना अपना कर्तव्य समझे। निष्काम-भाव से देश, काल तथा पात्र को समक्ष रख कर शास्त्र विधि के अनुसार शुद्ध, पवित्र पदार्थों का दान करे। पात्र का सत्कार करे, मधुर तथा प्रियवचन बोलता हुआ देवे। अन्यथा भस्म मे आहुति डालने के समान सब किया हुआ निष्फल जाता है।

मनुष्य इस प्रकार शास्त्रादेश के अनुसार अहिंसा, सत्य आदि व्रतों का पालन करते हुए ऐसा आचरण करता है जिससे किसी प्राणी के अनिष्ट चिन्तन या सम्पादन की सम्भावना भी नहीं रहती। और दान, यज्ञ तथा परोपकार आदि सात्त्विक आचरणों से इस लोक मे स्थिर सुख तथा शान्ति पूर्वक जीवन व्यतीत करता है, मृत्यु के अनन्तर परलोक मे महान् ऐश्वर्य तथा शुभ गति को प्राप्त होता है।

२९. दान यज्ञ आदि का परलोक में शास्त्रोक्त फल

जो लोग गृहस्थ में रहते हुए उस आश्रम के उपयुक्त शास्त्र विहित कर्मों का आचरण नहीं करते केवल ऐहिक भोग सामग्री को जुटाने तथा उसके उपभोग में अपना अत्यन्त अमूल्य समय का अपव्यय करते हैं उन्हीं के सम्बन्ध में भगवती श्रुति की घोषणा है कि:—

"यस्याग्निहोत्रमदर्शमपौर्णमासमचातुर्मास्यमनाग्रयणमतिथिवर्जितश्च ।
अहुतमवैश्वदेवमविधिना हुतमासप्तमांस्तस्य लोकान् हिनस्ति ॥" (मुण्ड० १,२,३,)

"जो पुरुष अग्निहोत्र सम्यक् प्रकार नहींकरता, अर्थात दर्श, पौर्णमास, चतुर्मास्य, शरद्ऋतु कर्तव्य, अतिथि यज्ञ, दान, वैश्वदेव तथा प्राणिमात्र की यथोचित अन्न द्वारा सेवा आदि नहीं करता या शास्त्र विधि के विरुद्ध करता है; तो उसके भूर्भुवः आदि सातो-लोकों का हनन हो जाता है।" इसके फल स्वरूप उसे तल, अतल, वितल आदि अधो-मुख लोकों में कीट पतङ्ग आदि निकृष्ट योनियों में जन्म मिलता है। (बृ० उप० ६, २, १५) अथवा जो यज्ञ दानादि विधि पूर्वक करता है वह ऊपर के भूर्भुवः आदि सातों लोकों को प्राप्त करता है।

"एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु यथा कालं चाहुतयो ह्याददायन् ।
तन्नयन्त्येताः सूर्यस्य रश्मयो यत्र देवानां पतिरेको अधिवासः ॥" (मुण्ड० १,२,५)

"सम्यक् प्रदीप्त अग्नि की इन ज्वाला रूप जिह्वा में जो श्रद्धा से हवन करता है, यथोचित समय पर डाली हुई आहुतियां सूर्य की रश्मियां होकर उस यजमान को भूर्भुवः आदि लोकों में ले जाती हैं जहां देवराज इन्द्र विराजमान है।"

"एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति ।
प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्य एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः ॥" (मुण्ड० १,२,६)

"वे दीप्त आहुतियां सूर्य रश्मियों द्वारा प्रकाश युक्त हुई हुई यजमान को मधुर वाणी से बुलाती हैं, उसकी पूजा तथा स्तुति करती हुई उसे ऊपर लेजाती हैं और कहती हैं कि यह तुम्हारा पुण्य, मंगलमय, ब्रह्मलोक, स्वर्गलोक है।"

३०. प्रकरण निष्कर्ष

प्रथम उपदेश अहिंसा के आचरण द्वारा साधक आसुरी हिंसा रूपी पाप से मुक्त हो जाता है। उसके फल स्वरूप यहां भी दु:ख से मुक्त हो जाता है और मृत्यु के पश्चात् उसे पशु पक्षी आदि निकृष्ट योनियों में जन्म नहीं लेना पड़ता। वह नारकीय यातनाओं से भी बच जाता है। दूसरे उपदेश दान,यज्ञ का आचरण करने से मनुष्य स्वार्थी तथा लोभी स्वभाव के पाश से छुटकारा पा जाता है, और अपने पुण्यबल से ऊपर के सप्त लोकों में देवत्व आदि पद को प्राप्त करता है। वहां दीर्घ काल तक दिव्यभोगों का आस्वादन करता है। तात्पर्य यह है कि अहिंसा व्रत के पालन से आसुरी भाव से उठकर मानुषी अधिकारी

को प्राप्त होता है। तदनन्तर दान यज्ञादि शास्त्रीय कर्मानुष्ठान से लोभमय मानवीय स्वभाव को अतिक्रमण करके दैवी स्वभाव तथा तदुचित अधिकारो को प्राप्त कर लेता है।

३१. देवताओ के लिए उपदेश—दमन

३२. देवताओ के भोग प्रधान जीवन की अपूर्णता

देव लोक की प्राप्ति बहुत प्रयत्न साध्य है। इसके लिए अनेक प्रकार के यज्ञ, दान, तप, व्रत आदि शास्त्रीय कर्मों का अनुष्ठान करना पड़ता है। मुक्तहस्त होकर धन का दक्षिणा आदि मे व्यय करना पड़ता है। वहा के दिव्य भोगो के सुख को मानवीय बुद्धि समझने मे असमर्थ है। चिरस्थायी दिव्य रमणीय भोगो के सुख के लिए भला किसके मुख मे पानी नहीं भर आता। परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि यह दिव्यजीवन भी भय, दु ख स्पर्धा, काङ्क्षा तथा पतन से रहित नहीं है। यद्यपि दिव्य भोग अति रमणीक तथा चिरस्थायी होते हैं परन्तु काल की परिधि से बाहर नहीं होते। हा मानवीय भोगों तथा लोक की अपेक्षा इनका पट्टा (Lease) या जीवन काल पर्याप्त अधिक होता है। परन्तु नित्य, निरन्तर, एक रस, अखण्डानन्द के सामने इन की तुलना क्षणमात्र तुल्य भी नहीं की जासकती। श्रुति, स्मृति भी यही कह रही है.—

"तस्मिन् यावत्संपातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते।" छा० ५,१०,५

"ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति" गीता ६,२१

"स्वर्ग मे जाकर वहा पर अपने पुण्य के फल के अनुरूप समय तक भोगो को भोग कर वह पुन उसी मार्ग से लौट आता है।"

"स्वर्ग मे गये हुए मनुष्य, स्वर्ग लोक के दिव्य भोगो को भोगते है। भोग द्वारा पुण्य के क्षीण हो जाने पर वे पुन मर्त्यलोक मे लौट आते हैं।"

इस प्रकार दिव्य भोग तथा लोक भी देश काल के परिच्छेद से परिच्छिन्न तथा नियन्त्रित हैं। माना कि भोगदृष्टिसे देवत्व बहुत ऊची कक्षा है, परन्तु इस स्वभाव वाला मनुष्य भी अभी जागरूक नहीं हुआ। उसके लिए अध्यात्म-पथ अभी दूर है। इसमे सन्देह नहीं कि वह अब असुरो के समान भोग्य पदार्थों को अन्याय पूर्वक, बलात्कार द्वारा दूसरो से नहीं छीनता और न ही न्यायोपार्जित धन धान्य का लोभवश संग्रह करता है। अब वह आप अकेला ही स्वादु पदार्थों का उपभोग नहीं करता और न ही अपने सब धन का व्यय अपने पर ही कर देता है। प्रत्युत अपनी शुद्ध कमाई यथोचित अधिकारियो (साधु, भक्त, तपस्वी, अनाथ विधवा, निर्धन, आतुरादि) की अन्न वस्त्र आदि से यथा शक्ति सहायता करता है। परन्तु अभी उसने ऐन्द्रिय भोगो की अपूर्णता, तृष्णावर्धकता तथा क्षणभङ्गुरता आदि दोषों की ओर ध्यान नहीं दिया, इनमे छिपी हुई मृत्यु को नहीं देखा। अभी वह इनके आपात रमणीय स्वरूप मे ही आसक्त हो रहा है। इनसे परे जो नित्य, अजर, अमर, सच्चिदानन्द-घन, एक रस स्वरूप परमसुख है उसकी झलक क्या अभी तक उसकी जिज्ञासा भी उसमे उत्पन्न नहीं हुई। ऐहिक भोगों के दासतामय जीवन से ऊपर उठकर मोक्षरूपी उच्पद की ओर लेजाने वाले अध्यात्म-मार्ग की ओर उसने एक पग भी नहीं उठाया। अभी तक

उसने यह नहीं समझा कि "मनुष्य जीवन केवल अन्न पर ही निर्भर नहीं है" (Man does not live on bread alone) अभी उसके अन्दर आध्यात्मिक जिज्ञासारूपी क्षुधा तथा पिपासा प्रादुर्भूत नहीं हुई। अभी वह उस रोगी के समान है जिसकी क्षुधा मन्द हो चुकी है और इसी लिए जीवनाधारभूत अन्न से उसकी अरुचि हो गयी है। वह अभी ऐहिक भोगों को ही अपने जीवन का लक्ष्य समझ रहा है। इसलिए उन्हीं के उपार्जन करने मे अपनी बुद्धिमत्ता मान रहा है, तथा उनकी त्रुटियों तथा दोषों की ओर से उसने अपनी आंखें फेर ली हैं।

३२. देवताओं को स्वाधिकारोचित उपदेश

जिन मनुष्यो ने असुर तथा मानवीय स्वभावो का अतिक्रमण करके देवत्व को प्राप्त कर लिया है उन्हीं के लिए प्रजापति का तीसरा उपदेश "मन तथा इन्द्रियों का पूर्णतया दमन करो" चरितार्थ होता है। जिस के चित्त से आसुरी हिंसामय तथा मानवीय लोभी स्वभाव दोनो सर्वथा निकल चुके हैं। जो यज्ञ, दान तथा परोपकार को क्रियात्मक रूप से अपना चुका है। वह जहां तक अध्यात्म-पथ पर चल चुका है। वहीं से वह 'दमन' रूपी इस तृतीय उपदेश का अधिकारी है।

परम्परा से तो मनुष्य मात्र ब्रह्म-विद्या का अधिकारी है। परन्तु व्यवधान रहित साक्षात् अधिकार उपर्युक्त तृतीय कक्षा वालों को ही है जो 'दमन' युक्त देव स्वभाव को प्राप्त हो चुके हैं। अतः इसी का आगे वर्णन किया जाएगा। पूर्व की दो कक्षाओ का गौण रूप से आनुषङ्गिक वर्णन किया गया है। जिससे पाठकों को हमारा तात्पर्य सुगमता से समझ मे आसके।

पहला अध्याय समाप्त

दूसरा अध्याय

साधन चतुष्टय

१. विवेक वैराग्य

२. प्रजापति के उपदेश का सार

गत अध्याय मे प्रजापति के उपदेश क्रम मे यह स्पष्ट किया गया है कि शास्त्रोपदेश में तीन वर्गों का अधिकार है। इन मे प्रथम वर्ग उन मनुष्यों का है जो असुर स्वभाव वाले है परन्तु धर्म के जिज्ञासु भी है। अभी उनका स्वभाव हिंसा प्रधान है। इनसे भी अधम कोटि उन पामर मनुष्यो की है जो कि वैषयिक तृष्णा को अपनी मनमानी अशास्त्रीय विधि से पूर्ण करते है, और शास्त्र श्रद्धा से रहित है। अभी उनमे धर्मोपदेश की जिज्ञासा ही उत्पन्न नहीं हुई है। इसी लिए वे अभी शास्त्रोपदेश के अधिकार की परिधि मे नहीं आते जैसे पशु-पक्षी। द्वितीय वर्ग मे उन मनुष्यो की गणना होती है जो हिंसामय स्वभाव को त्याग चुके है, परन्तु लोभवश अपने न्यायोपार्जित धन धान्य से परोपकार के लिए कुछ भी व्यय नहीं करते। लोभरूपी मल से अभी उनका स्वभाव मलिन है। तृतीय वर्ग देव स्वभाव वाले लोगो का है, जो अपने न्यायपूर्वक उपार्जित धन-धान्य मे से दूसरो के हितार्थ उदारता पूर्वक व्यय करते है, एवं यज्ञ, दान तथा अन्य धर्म विहित कार्यों मे भी उनकी पूर्ण श्रद्धा है। प्रायः उनका जीवन धर्ममय होता है। पुण्य कर्मों मे प्रवृत्ति उनकी स्वाभाविक होती है। परन्तु उनके चित्त मे दिव्य भोगों की सतत अभिलाषा बनी रहती है। इसी लिए और इसी दृष्टि कोण से वे शास्त्रीय जीवन व्यतीत करते है। उनका लक्ष्य दिव्य भोग तथा ऐश्वर्य मात्र ही है। इन्हीं तीन वर्गों को अधिकार के अनुसार प्रजापति ने उपदेश दिया— "दया करो" "दान करो" "दमन करो"। अपनी २ योग्यता के अनुसार ही उपदेश समझ मे आसकता है और उस पर आचरण भी श्रद्धा पूर्वक किया जासकता है। अपनी योग्यता से न्यून या अधिक, उत्कृष्ट तथा अपकृष्ट उपदेश पर न तो श्रद्धा ही हो सकती है और न उसके अनुकूल आचरण करना ही शक्य होता है। इसीलिए प्रथम दो वर्गों को शास्त्रीय मार्ग के अनुसार लौकिक भोगो के उपार्जन तथा सेवन का उपदेश किया गया है, कि जिसके आचरण द्वारा वे परिणामतः दु.ख से बचकर वास्तविक सुख को प्राप्त कर सकें और यथासम्भव उत्तरोत्तर दिव्य सुख के भागी भी बन सकें।

वस्तुतः सासारिक भोग मार्ग किसी विधि से भी सर्वथा दु.खरहित कदापि नहीं हो सकता। परन्तु अभी उन प्राथमिक दोनो वर्गों को अपने अधिकार से ऊंची शिक्षा का रहस्य ही समझ मे नहीं आसकता। जिस प्रकार साधारणतया धनियों के होने वाले दु खों को निर्धन व्यक्ति नहीं समझ सकते हैं। वे उनके उच्च प्रासाद, भवन, उद्यान, मोटर तथा अन्य नानाविध उपभोग सामग्री को अत्यन्त रमणीक तथा सर्वथा सुखप्रद ही समझते है। परन्तु उनकी योगक्षेम सम्बन्धिनी अपरिमेय चिन्ताओं तथा सदा निरन्तर बढने वाली भोग, मान आदि की लालसा रूपी अग्नि जन्य अपार दु:ख का तो उनकी बुद्धि अनुमान भी नहीं कर सकती। सर्वसाधारण धनियो को भी इनकी व्यथा का समझ

मे आना अत्यन्त कठिन है। अत एव कोई विरला दिव्य भोग सम्पन्न विचारवान् ही इस हृदय विशरक तथ्य को समझ सकता है। या भोग सामग्री रहित होने पर भी पूर्वपुण्य-समूह जन्य सद्-बुद्धि द्वारा विवेकी पुरुष इस रहस्य को जान सकता है। इसलिए भोग-त्याग रूपी इस मोक्षधर्म का उपदेश देवताओं को ही किया गया है।

इस तृतीय श्रेणी से उपनिषद् शिक्षा का कुछ कुछ आरम्भ होता है। आजकल प्राय आसुरी स्वभाव की ही प्रधानता है। इसलिए उपनिषद् शिक्षा का पूर्ण अधिकारी मिलना ही दुर्लभ सा हो रहा है। यही कारण है कि उपनिषद् वेदान्त की खुली शिक्षा लाभ के स्थान पर प्राय. हानिप्रद सिद्ध हो रही है। उपनिषद् के गूढ आशय को अधि-गम करने की सामर्थ्य न होने के कारण ही अर्थ का अनर्थ किया जाता है। योग्य अधि-कारी को प्राप्त होकर ही प्रत्येक विद्या सफल हुआ करती है। अन्यथा व्यर्थ श्रम ही उठाना पडता है।

३. भिन्न-भिन्न कक्षाओ मे भक्ति तारतम्य

पहले कही गयी असुर तथा मनुष्य की श्रेणियों मे मनुष्य अत्यन्त नास्तिक नहीं होता। सर्वान्तर्यामी, सर्वनियन्ता ईश्वर मे तथा उसके अटल विधान मे दृढ विश्वास रखता है। उसके आदेश को शिरोधार्य मानता है। उसी मे अपना कल्याण समझता है। वह ईश्वर की उपासना भी करता है। अन्य विहित कर्मों को भी शास्त्र रीति के अनुसार करता है। वह भगवान् का भक्त है। परन्तु अभी उसका चित्त मोक्ष-जिज्ञासा से शून्य है। भगवान् कृष्ण ने भी अपने भक्तों के चार विभाग गीता मे वर्णन किये हैं —

> चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
> आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ गीता ७,१६

"हे अर्जुन! चार प्रकार के भक्त मेरी शरण लेकर मेरी सेवा तथा भजन करते हैं। ये सब ही पुण्य कर्म करने वाले हैं। क्योंकि विना पुण्य सञ्चय के वाङ्-मनसागोचर भगवत्तत्त्व मे श्रद्धा ही नहीं होती। पुण्य रूपी क्षार से पाप रूपी मल के धुल जाने पर ही मनुष्य भगवान् की शरण मे आता है। प्रश्न होता है कि जब ये चार प्रकार के भक्त सब के सब भगवान् की शरण मे आ जाते हैं तो इन मे भेद किस आधार पर किया जाता है। इसका उत्तर यह है कि उनके भेद का कारण उनका भिन्न प्रयोजन ही है। जिसको लक्ष्य मे रखकर वे प्रभु की शरण मे आते हैं। जैसे (१) आर्त—तस्कर, व्याध तथा रोगादि से अभिभूत अपने रोग, भय तथा दु ख को दूर करने के लिए ही भगवान् की शरण मे आता है। वह अपने दु ख से छूटने का उपाय भगवान् की शरण मे जाने को ही समझता है। इसके अतिरिक्त और किसी उपाय पर उसका दृढ विश्वास नहीं होता। उसके दु ख की ओषधि केवल भगवच्छरण ही है। (२) जिज्ञासु—भगवत्तत्त्व मात्र के दर्शन की अभिलाषा रखने वाला व्यक्ति अपने लक्ष्य की पूर्ति का अनन्य साधन भगवान् की शरण को ही समझता है। (३) अर्थार्थी—धन, जन, पद, ऐश्वर्य तथा प्रभुत्व आदि अर्थों के लिए वह अनन्य भाव से भगवान् की आराधना करता है।

(४) ज्ञानी—जो भगवत्तत्त्व का हस्तामलकवत् साक्षात्कार कर लेता है और उस आनन्द-मयी स्थिति की अनवच्छिन्न धारा का उपाय भगवान् के अनन्य भजन को ही समझ कर उनके शरणापन्न हो जाता है।

आर्त तथा अर्थार्थी दोनों भगवान् के भक्त तो अवश्य हैं; क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं उन्हें अपना भक्त बतलाते हैं। परन्तु अभी उनका लक्ष्य भगवान् नहीं प्रत्युत संसार ही है। उसी की सिद्धि के लिए वे भगवान को अपना साधन बनाते हैं, न कि साध्य। उनकी भक्ति का प्रयोजन भगवत्प्राप्ति नहीं है। देवत्व प्राप्तिपर्यन्त भगवान में श्रद्धा, विश्वास, प्रेम तथा भक्ति तो अवश्य होती है, परन्तु उस भक्ति का ध्येय अभी अखण्ड, सच्चिदानन्द स्वरूप भगवान् नहीं होता प्रत्युत स्थूल, दिव्य भोगैश्वर्य आदि ही होता है। भोग वासना मल से मलिन सत्त्व होने के कारण ये अभी उस परमतत्त्व को अपना लक्ष्य नहीं समझ सकते। उपनिषदों में तो परमध्येय का वर्णन 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' रूप में किया गया है। अतः अभी तक वे उस औपनिषद तत्त्व के साक्षात् साधन ब्रह्म विद्या के अधिकारी नहीं समझे जाते।

ब्रह्मविद्या का उपदेश उनके लिए उपयुक्त हो सकता है जो इह लोक तथा परलोक के विषय भोगों के दोषों का अन्वेषण करने लग गये हैं। परन्तु जिनकी अभी धर्मजन्य दिव्य भोगों में भी कुछ न कुछ आस्था, रति तथा आसक्ति बनी हुई है। उनकी भी ब्रह्म-विद्या में गति नहीं है। परन्तु जिन महाभाग्यशाली जिज्ञासुओं की बुद्धि ऐहिक तथा आमुष्मिक रमणीक भोगों से सन्तुष्ट नहीं हो सकती उनके लिए श्रुति भगवती दिव्य भोगों के उपाय आदि का वर्णन करने के पश्चात् (मुण्डक २, ७, १३ में) मोक्ष धर्म का उपदेश आरम्भ करती है। यहीं से उस परा विद्या के उपदेश का सूत्रपात होता है। अर्थात् उसके उपयोगी साधन चतुष्टय की सामग्री का वर्णन किया जाता है। इस सामग्रीसम्पन्न मनुष्य का ही उपनिषद् (ब्रह्म विद्या) में अधिकार है, ऐसा सच्चा जिज्ञासु ही श्रवण आदि द्वारा सच्चिदानन्दघन ब्रह्म के दर्शन कर कृतकृत्य हो जाता है अन्यथा कदापि नहीं। उसी सामग्री का सविस्तार वर्णन आगामी कुछ पृष्ठों में किया जाएगा।

५. साधन चतुष्टयान्तर्गत प्रथम साधन

नित्यानित्य वस्तु विवेक

"प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति ॥ मुण्डक २,७
अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः।
जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥ मु० २,८
अविद्यायां बहुधा वर्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः।
यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात् तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ॥ मु० २,९
इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ॥ मु० २,१०

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन ।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥" मु० १,१२

१६ऋत्विज्, यजमान तथा यजमान-पत्नी इन अठारह के आश्रित "स्वर्गीय सुखोपभोग के साधनभूत अग्निष्टोमादि अनेक-विध यज्ञ आदि कर्म शास्त्र में कहे गये हैं। यद्यपि इस संसार के भोगों की तुलना में आगे के लोकों के दिव्य भोग अत्यन्त रमणीय तथा चिरस्थायी हैं, तथापि क्योंकि इनके सम्पादन का आश्रय ऋत्विजादि ही अस्थिर तथा नाशवान हैं। इसलिए वे सब कर्म अपने फलों के सहित समय पाकर अवश्य ही नष्ट होने वाले हैं। जैसे क्षीर, दधि आदि पदार्थ अपने आश्रय कुण्डादि के टूटने पर विकीर्ण हो जाते हैं। क्योंकि कर्म का सम्पादन तथा उसके सम्पादन-कर्ता ऋत्विजादि सादि हैं, और कोई भी सादि-भाव नित्य स्थिर तथा शाश्वत नहीं हो सकता। अत. जो मूढ, विवेकभ्रष्ट कर्मठ, केवल कर्मकाण्ड को ही परम श्रेयस् का साधन मानते तथा प्रमुदित मन में इनके अनुष्ठान में ही अपनी कृतकृत्यता समझ लेते हैं। वे भ्रान्त मति वाले कमठ स्वर्ग में जाकर नियत समय तक वहां के दिव्य भोगों का उपभोग करते हैं, और फिर पुनः पुनः जन्म मृत्यु के आवर्त में पड़ते हैं (७)। इनके अज्ञान, अविवेक की कोई सीमा नहीं है; क्योंकि अज्ञानी होते हुए भी अपने आप को धीर पण्डित तथा तत्त्ववित् मान बैठते हैं। उन्होंने अपने अविवेक को ही विवेक मान कर उसे अपना नेता मान लिया है। अत एव जरा व्याधि आदि अनेक अनर्थ समूह रूपी पङ्क में निमग्न हुए दिन रात पीडित होते हैं। जैसे लोक में अन्धे के पीछे चलने वाले अन्धे गर्त में गिरते तथा कण्टकाकीर्ण स्थल में जा फंसते हैं। वे मार्ग को सुलझाने का जितना प्रयत्न करते हैं उतना ही वे उलझते जाते हैं। क्योंकि उन्हों ने तो अपने अविवेक (यज्ञ, दान आदि का फल परम-श्रेय है) को ही विवेक (ज्ञान) मान रखा है। उन्हें इसमें यत्किञ्चित् भी सन्देह नहीं, जो अपनी भूल समझ कर उसे सुधारने का प्रयत्न कर सकें (८)। अनेक प्रकार की अविद्या में ग्रस्त हुए हुए वे अज्ञानी (कर्मठ) जन ऐसा अभिमान करते हैं कि हम कृतार्थ हो गये हैं, हमने परम लक्ष्य को सिद्ध कर लिया है। परन्तु केवल उपासना (ज्ञान रहित कर्म ही में श्रद्धा रखने) वाले मूल तत्त्व को नहीं जानते, क्योंकि उनकी बुद्धि कर्मफल स्वर्ग आदि में राग के कारण मोह ग्रस्त है। अत एव वे रागजन्य दु.ख से पीड़ित होते हुए नाशवान् कर्म फल स्वर्ग से च्युत होते हैं (९)। जो लोग पुत्र, बन्धु तथा पशु आदि के मोह के कारण अविवेक जन्य मूढता की पराकाष्ठा को पहुच गये हैं, वे यज्ञ आदि श्रौत इष्ट कर्मों तथा वापी, कूप, तड़ाग आदि स्मार्त पूर्त कर्मों को परम पुरुषार्थ का प्रधानतम साधन मानते हैं। परन्तु जो लोग कर्म से भिन्न परमात्मोपासना तथा ज्ञान को श्रेय का साधन नहीं जानते वे अपने पुण्यों के फलरूप स्वर्गादि में कर्मफल को भोग कर पुनः इस मनुष्यलोक में या इससे भी हीन, हीनतर पशु पक्षी नरकादि स्थानों में उत्पन्न होते हैं (१०)। यहा तक कर्म-फल में आसक्त पुरुषों की गति का वर्णन करके अब सब प्रकार से विरक्त परतत्त्व के जिज्ञासु के ब्रह्मविद्या में अधिकार के सम्बन्ध में उपनिषद् कहते हैं। वेद में अनेक प्रकार के कर्मों का प्रतिपादन है। उनके फल भी भिन्न भिन्न बतलाए गये हैं। जैसे अग्निष्टोमादि विहित कर्म स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति के साधन हैं। वर्णाश्रमोचित सन्ध्यावन्दनादि

नैत्यिक कर्मों का अनुष्ठान न करने से पाप होता है, जिसका कटुफल परलोक में अवश्य भोगना पड़ता है। निषिद्ध हिंसा, चोरी आदि कर्म करने से नरक, तिर्यक्, प्रेत, पशु, पक्षी आदि अत्यन्त दुःखप्रद योनियों में जन्म मिलता है। इसलिए परतत्त्व के जिज्ञासु को चाहिए कि वह इन सब प्रकार के विहित निषिद्ध आदि कर्मों तथा इनसे प्राप्त होने वाले लोकों के, प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम आदि प्रमाणों से, वास्तविक स्वरूप को भली भांति जान कर — कि स्तम्ब से लेकर ब्रह्मलोक पर्यंन्त ये स्थूल तथा सूक्ष्म लोक अविद्या प्रेरित कर्मों के ही फल हैं। इसलिए ये बीज और अंकुर की तरह परस्पर एक दूसरे की उत्पत्ति का निमित्त बनते हैं। ये अनेक अनर्थों के साक्षात् द्वार तथा स्थान हैं और जल बुद्बुद् के समान क्षणभंगुर और कदली-स्तम्भ की तरह निःसार हैं। आपातरमणीय प्रतीत होते हुए भी परिणाम में अत्यन्त दुःख देने वाले तथा भयजनक हैं। मरु-मरीचिका के जल के समान परम सुख की पिपासा की निवृत्ति इनके द्वारा नहीं हो सकती। *गन्धर्वनगरवत्* केवल विभ्रम उत्पन्न करने के हेतु हैं। इनसे आजतक न तो किसी की आत्यन्तिक तृप्ति हुई न होती है और न होगी, क्योंकि इक्षुदण्ड के चित्र के समान ये रस शून्य हैं। इसलिए विवेकी जिज्ञासु को चाहिए कि वह इनसे अत्यन्त विरक्त हो जाए। *वान्ताशनवत्* पुनः इनकी स्वप्न में भी इच्छा न करे। वह यह दृढ निश्चय करे कि सम्पूर्ण स्वर्गादि लोक कर्म जन्य हैं, इसलिए अनित्य हैं। इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है जो कर्म जन्य न हो और अनित्य तथा नाशवान् न हो। इसलिए इन अनित्य भोगों से जो बहुत वित्त व्यय तथा बहुत आयास साध्य है, कुछ लाभ नहीं, इनसे श्रेय प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिए जिज्ञासु का इन सांसारिक भोगों से *काकविष्ठावत्* उदासीन रहना अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि जो नित्य, एकरस आनन्द स्वरूप तत्त्व है वह नित्य होने से किसी कर्म का साध्य नहीं हो सकता। इस प्रकार विवेक पूर्वक विचार से उस अभय, शिव, नित्य पद की प्राप्ति से ही तापत्रयी का अत्यन्त शमन, परमानन्दैकरस की उपलब्धि तथा नित्य स्थिति हो सकेगी। इसके लिए जिज्ञासु को चाहिए कि वह इस परमतत्त्व के ज्ञान तथा प्राप्ति के लिए श्रद्धायुक्त समित्पाणि हो कर उस श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जावे, जो समग्र श्रुतितात्पर्य को गुरु परम्परा से भली प्रकार जान चुका हो और उस अद्वितीय अखण्डानन्दैकरस *परमात्मतत्त्व का हस्तामलकवत् दर्शन कर चुका हो,* और जिसने उसी को अपना एकमात्र आधार मान लिया हो (१२)।

ब्रह्म विद्या का अधिकारी साधन चतुष्टय सम्पन्न होता है। उनमें से प्रथम साधन नित्यानित्य वस्तु विवेक का इन वचनों से दिग्दर्शन कराया गया है।

> यदा मेरुः श्रीमान् निपतति युगान्ताग्निनिहतः,
> समुद्राः शुष्यन्ति प्रचुरनिकरग्राहनिलयाः।
> धरा गच्छत्यन्तं धरणिधरपादैरपि धृता,
> शरीरे का वार्ता करिकलभकर्णाग्रचपले ॥ भर्तृहरि वै० श० ७२

"जब काल सुमेरु जैसे महान पर्वतों को जला कर गिरा देता है, ग्राहों से भरे हुए महासागरों को सुखा देता है, हिमालय के सदृश पर्वतों को धारण करने वाली

पृथिवी को भी नष्ट कर देता है, तब हाथी के कान की कोर के समान चञ्चल मनुष्य-शरीर की क्या गिनती है ? इसके नाश होने मे कौनसा आश्चर्य है।

उपर्युक्त विषयक कर्म-फल की अनित्यता के दर्शाने वाले गीता के कुछ श्लोक उद्धृत किये जाते हैं:—

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥ गीता २,४१

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीतिवादिनः ॥ ४२

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥ ४३

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ ४४

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥ ४५

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके ।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ ४६

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापाः, यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकम्, अश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान् ॥ गी० ६,२०

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ गी० ६,२१

"हे कुरुनन्दन ! इस श्रेयमार्ग मे निश्चय स्वभाव वाली बुद्धि एक ही होती है। परन्तु कल्याणमार्ग विहीन, बहु विध-कर्म फलों मे आसक्ति रखने वालों की कर्म तथा फल भेद के कारण बुद्धियां भी अनन्त तथा विभिन्न होती हैं। कल्याणमार्ग के एक होने के कारण इस मे भेद तथा बुद्धि की अनेकता होना संभव नहीं है (४१)। हे पार्थ ! जो अविवेकी लोग कर्मकाण्डात्मक वेद के साधन कर्म तथा फल मे ही आसक्त है और जो श्रवणमात्र रमणीक इन वचनो को कहते है, कि वेद मे स्वर्ग तथा हिरण्य हस्ती फलो के साधनों वाले कर्मो मे अतिरिक्त मनुष्य का अन्य कोई ऊंचा लक्ष्य तथा साधन वर्णित नहीं है (४२)। वे कर्मठ कामलोलुप स्वर्ग को ही परम लक्ष्य मानते है, और इसकी प्राप्ति के लिए और वहा भोगैश्वर्य के उपभोग के लिए, बहु-वित्त-व्यय तथा बहु-आयास-युक्त कर्म को ही उसका साधन मानते हैं। इसलिए वे मूढ जन्म-मृत्यु वाले इस संसारचक्र मे निरन्तर घूमते है (४३)। भोगैश्वर्य मे आसक्त मनुष्यो की बुद्धि परमार्थसाधन मे

एकाग्र नहीं हो सकती; क्योंकि स्वर्ग के दिव्य भोगों को वर्णन करने वाली वेदवाणी ने उनके चित्तों को भोगपरायण बना दिया है (४४)। हे अर्जुन! इस कर्मकाण्डात्मक वेद का लक्ष्य तीन गुणों वाला स्थूल सूक्ष्म संसारचक्र ही है। इसलिए तुम इस नाशवान् तथा सुख दुःख आदि विविध द्वन्द्वों से युक्त सांसारिक लक्ष्य को छोड़ दो, योग-क्षेम की चिन्ता को त्याग दो, क्योंकि योग क्षेम की चिन्ता वाले पुरुष की परमार्थ साधन में प्रवृत्ति का होना कठिन है। इसलिए तुम शुद्ध सत्त्वगुण की निष्ठा को प्राप्त कर परमार्थ साधन में जागरूक तथा अप्रमत्त हो जाओ (४५)। हे कुन्तीनन्दन! परमार्थ भगवत्तत्त्व के प्राप्त हो जाने पर वेद प्रतिपादित स्वर्गीय दिव्य भोग आदि सब प्रकार के कर्मफल एक बिन्दु के समान इस आनन्द सागर के अन्तर्गत हो जाते हैं। जैसे कूप, वापी, तड़ाग आदि नाना जलाशयों से सिद्ध होने वाले स्नान, पान, तथा वस्त्र प्रक्षालनादि सब प्रयोजन स्वच्छ, मधुर परिपूर्ण जल सागर से अत्यन्त सुगमता तथा भली प्रकार से सम्पन्न हो जाते हैं। और उस पर विशेषता यह है कि सब प्रकार के कर्मफल नाशवान्, आपातरमणीय, परिणाम में दुःख देने वाले, वृद्धि तथा ह्रास युक्त, तथा हर्ष, शोक, स्पर्धा तारतम्यमय होते हैं, परन्तु यह भगवत् प्राप्ति रूपी परमतत्त्व कूटस्थ, नित्य, अखण्ड सच्चिदानन्दरूप, षड्भाव विकार रहित, एक रस रहने वाला है। इसलिए इन कर्मफलों को तुच्छ जान इन की रुचि को अपने चित्त से सर्वथा निकाल दो और उस परमतत्त्व की प्राप्ति के साधन में निरन्तर लगे रहो (४६)। हे धनञ्जय! ऋग्, यजु तथा सामवेद को जानने वाले, जिनके हृदय सोम-पान से शुद्ध हो गये हैं, वे अग्निष्टोमादि यज्ञों को सम्पादन करके मुझ से उन यज्ञों के फल रूप में स्वर्गप्राप्ति की याचना करते हैं। मृत्यु के पश्चात् वे अपने पुण्यफल से स्वर्ग को पाते हैं और वहां अप्राकृतिक दिव्य भोगों को भोगते हैं (९,२०)। हे पाण्डुनन्दन! वे उन विशाल स्वर्गीय भोगों को पुण्य के अनुरूप निश्चित समय पर्यन्त भोगते हैं। और पुण्य-राशि के समाप्त हो जाने पर जन्म-मृत्यु वाले मर्त्यलोक में प्रवेश करते हैं। इस प्रकार वेद-त्रयी द्वारा प्रतिपादित कर्मकाण्ड में संलग्न वे कामलोलुप कर्मठ जन्म-मृत्यु वाले इस संसारचक्र में बार बार आते जाते रहते हैं। उनको इस दुःखदायी संसार गति से विमुक्ति रूपी स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं होती (९,२१)। परन्तु विवेकी पुरुष नित्यानित्य वस्तु द्वारा अनित्य का परित्याग करके नित्य, कूटस्थ, जरा-मृत्यु वर्जित तत्त्व को पा जाता है।

५. वैराग्य

उपर्युक्त दृढ़ विवेक का फल ही वैराग्य है। इसका विशद वर्णन कठोपनिषद् के यम नचिकेता संवाद में किया गया है। यमाचार्य ने नचिकेता को आत्मा की दुर्विज्ञे-यता रूपी भय दिखा कर भयभीत तथा अनेक चित्ताकर्षक प्रलोभनों द्वारा आत्मतत्त्व की जिज्ञासा से विचलित करने का भरसक प्रयत्न किया। परन्तु वह धीर, दृढ़विवेकी बालक अपनी उत्कट तथा अदम्य ब्रह्मजिज्ञासा रूपी स्थिर शिला पर ध्रुव के समान अटल तथा स्थिर रहा। क्योंकि वह श्रुति प्रतिपादित, कूटस्थ, अमर पद को अपना अनन्य लक्ष्य बना चुका था, यमाचार्य कहते हैं:—

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न हि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः।
अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम्॥ कठो० १,२१

आत्मतत्त्व सुविज्ञेय नहीं है। हे नचिकेता! साधारण योग्यता वाले मनुष्यों की तो बात ही क्या है, पूर्वकाल में सत्त्वगुण प्रधान बुद्धि वाले देवताओं को भी इस परम-तत्त्व के संबन्ध में अनेक प्रकार के संशय उत्पन्न हुए। इसलिए सामान्य संसारी स्थूल बुद्धि वाले प्राकृत जन बारबार सुनने सुनाने पर भी इस तत्त्व को निःसन्देह भली प्रकार से नहीं समझ सकते। क्योंकि यह आत्मतत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण दुर्गम है। हे नचिकेता! तुम अभी सुकुमार बालक हो, तुम्हारी बुद्धि अभी चञ्चल तथा अपरिपक्व है। इसलिए तुम कोई सुलभ तथा निश्चित फल वाला अन्य वर मांगो। अपने इस आग्रह का परित्याग करदो। ऐसे गूढ़ तथा दुर्विज्ञेय तत्त्व के प्रतिपादन के लिए मुझे बाधित मत करो। यमाचार्य के ऐसा कहने पर धीर बालक नचिकेता कहता हैः—

"देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल त्वं च मृत्यो यन्न सुविज्ञेयमात्थ।
वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित् ॥" १,२२

"हे भगवन्! मैं यह मानता हूं कि आत्मतत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म तथा दुर्गम है। परन्तु ऐसा मान लेने पर मेरी जिज्ञासा शान्त न होकर तीव्र ही होती है। आपभी इसकी पुष्टि कर रहे हैं कि यह आत्मतत्त्व मेरे लिए सुविज्ञेय नहीं है क्योंकि इसमें देवताओं को भी कई प्रकार के संशय हुए। बड़े बड़े चतुर पण्डितों की बुद्धि भी इस विषय में कुण्ठित हो जाती है। तो फिर आप सरीखा आत्मतत्त्ववित् कुशल आचार्य मुझे और कहां मिलेगा। अतः मैं इस उत्तम अवसर से भरपूर लाभ उठाऊंगा। यह आत्मतत्त्व विज्ञान ही परम निःश्रेयस का अनन्य, निरपेक्ष हेतु है। इसलिए मैं इसके समान अन्य किसी वर को नहीं समझता। मेरी दृढ़ धारणा, आस्था तथा जिज्ञासा इसी वर के लिए है। क्योंकि इसके अतिरिक्त सब अनित्य फल के देने वाले हैं। इसलिए ऐसे अपूर्व नित्य तत्त्व की जिज्ञासा संबन्धी वर को मैं कदापि नहीं छोड सकता। कृपया आप इसी वर को प्रदान करके मेरी जिज्ञासा का शमन करें (२२)।

६. भोगैश्वर्य आदि के दोष

नचिकेता के इस प्रकार कहने पर यम पुनः नचिकेता को प्रलोभन देते हुए कहते हैं:—

"शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व बहून् पशून् हस्तिहिरण्यमश्वान्।
भूमेर्महदायतनं वृणीष्व स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि ॥ १, २३
एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च।
महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि कामानां त्वा कामभाजं करोमि ॥" १, २४

जब यमाचार्य ने यह समझ लिया कि इस धीर बालक को आत्मतत्त्व की दुर्विज्ञेयता रूपी भीति द्वारा भयभीत करके आत्मतत्त्व की जिज्ञासा से विचलित नहीं कर सकते तो वे उसे भोगों के प्रलोभन देकर उस की परीक्षा करते हैं कि वह आत्मतत्त्व के जानने का सच्चा अधिकारी है या नहीं। वे कहते हैं—"हे नचिकेता! तुम संसार में अत्यन्त

प्रिय माने जाने वाले पुत्र पौत्रों को माग लो जो मानवीय पूर्णायु (सौ वर्ष तक दीर्घजीवी), नीरोग, बलिष्ठ, नीतियुक्त, चतुर, धर्मात्मा, यशस्वी तथा कीर्तियुक्त हो। इस के अति रिक्त अत्यन्त उपकारी गौ, हाथी, घोडे आदि पशुओं को माग लो। और अमित स्वर्ण-राशि तथा सपूर्ण पृथ्वी का निर्द्वन्द्व, निष्कण्टक साम्राज्य माग लो। तुम अपने आप सौ वर्ष पर्यन्त जीवित रहो, अथवा जितने समय तक जीवित रहना चाहो उतनी दीर्घायु मुझ से माग लो (२३)। यदि अन्य किसी ऐसे वर की कामना हो तो वह भी माग लो। मैं तुम्हें प्रसन्नता पूर्वक आशीर्वाद देता हू कि तुम जगत् मे दीर्घजीवी होवो। धन धान्य से सदा तुम्हारे भण्डार भरपूर रहें। तुम स्वस्थ रह कर भोगैश्वर्य भोग सको। तुम्हारा साम्राज्य तुम्हारी आयु पर्यन्त बना रहे। रोग तथा आपत्तिया तुम्हारी ओर देख तक न सकें" (२४)। यम पुन उसे दिव्य भोगों का प्रलोभन देते हैं, क्योकि वे भाप गये हैं कि नचिकेता इन सब लौकिक भोगैश्वर्यों से विमुख हो रहा है —

"ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान् कामाश्छन्दतः प्रार्थयस्व।
इमा रामाः सरथाः सतूर्या नहीदृशा लंभनीया मनुष्यैः॥
आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षी ॥" कठ० १,२५

"हे नचिकेता! मर्त्यलोक मे जिन जिन मनोवाञ्छित कामनाओ की पूर्ति दुर्लभ तथा असभव है, उन सब को तुम अपनी इच्छा के अनुसार मुझ से माग लो। मैं प्रसन्नता पूर्वक तुम्हें ये दिव्य अप्सराए देता हू, जो तपस्वियों के चित्त को भी अनायास ही हर लेने वाली हैं, इन के वाहन दिव्य रथो को भी स्वीकार करो। साथ ही विविध वाद्य वीणा आदि भी देता हू। मुझ से दिये हुए इन सब दिव्य भोगों का आनन्द पूर्वक उपभोग करो, और इन अप्सराओं को अपनी परिचर्या मे रखो। मेरी कृपा के बिना किसी मनुष्य को इन की प्राप्ति होना सभव नहीं है। अब तुम अपना आग्रह छोड कर इन्हें स्वीकार करो। मृत्यु के अनन्तर प्राणी का क्या अवशिष्ट रहता है? वह क्या है? कैसे जाना जा सकता है? इत्यादि प्रश्नो को मुझ से मत पूछो" (२५)। यमाचार्य के इस प्रकार दिव्य भोगों के प्रलोभन देने पर भी परम गम्भीर बालक नचिकेता के शान्त स्वभाव मे कुछ विकार नहीं हुआ।

"श्वो भावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत् सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्तगीते॥" कठ० १,२६

ऐहिक तथा पारलौकिक भोगैश्वर्य के वास्तविक स्वरूप को जानने वाले नचिकेता के समुद्र के समान गम्भीर, हिमालय सदृश स्थिर तथा नीरक्षीर के पृथक् करने मे निपुण हस के समान विवेकी चित्त में इन स्वर्गीय दिव्य भोगैश्वर्यों के प्रलोभन से किञ्चिन्मात्र क्षोभ तथा लालसा उत्पन्न नहीं हुई। किसी कवि ने सत्य कहा है —' विकार हेतौ सति विक्रियन्ते येषा न चेतासि त एव धीरा' चित्त मे विकार उत्पन्न करने वाले अनेक प्रलोभनो के सम्मुख उपस्थित होने पर जिन महान् पुरुषो के चित्त मे विकार उत्पन्न नहीं होता वही सच्चे धीर पुरुष कहलाते है। यह उक्ति नचिकेता पर ठीक चरितार्थ

होती है। दृढ़, शान्त तथा निर्भीक वाणी से नचिकेता ने कहाः—"हे प्राणियों का अन्त करने वाले मृत्यु ! जिन आपातरमणीय भोगों के प्रलोभन का जाल आप मेरे सामने फैला रहे हैं, इन की सत्ता अत्यन्त सन्दिग्ध तथा अनिश्चित है। इनके विषय में तो यह भी पता नहीं कि ये कल तक भी रहेंगे या नहीं। इनका उपभोग इन्द्रियों के तेज को क्षीण कर देता है। इन अप्सरा आदि का क्षणिक सुखोपभोग धर्म, वीर्य, बुद्धि, बल, यश आदि के नाश का हेतु है। यह निश्चित रूप से अनेक अनर्थों तथा आपत्तियों का द्वार तथा घर है। और आप जो दीर्घ आयु का प्रलोभन दे रहे हैं उसकी दशा यह है कि जब ब्रह्मा के अनेक कल्प की आयु भी इस अखण्ड काल की अपेक्षा क्षण मात्र से भी अल्प है, तो मेरे सरीखे मनुष्य की आयु की दीर्घता के सम्बन्ध में क्या कहा जा सकता है। जब स्रष्टा ब्रह्मा का भी अन्त होता है और वह भी मृत्यु के मुख का ग्रास बनता है तथा मृत्यु के भय से बचा हुआ नहीं है, तो अन्य किसी प्राणी के विषय में क्या कहना !

'येषां निमेषोन्मेषौ जगतः प्रलयोदयौ ।
तादृशा पुरुषा यान्ति मादृशां गणनैव का ॥'

'जिनके नेत्रों के खोलने और बन्द करने से जगत् का उदय और अस्त होता है, वे जब काल का ग्रास बनते हैं, तो हम सरीखों की क्या गणना।' बड़े बड़े चक्रवर्ती राजा महाराजा तथा देवाधिपति इन्द्र भी स्वर्ग की कुछ दिन शोभा देख कर ऐसे नाश को प्राप्त हुए कि अब उनके नाम का भी किसी को पता नहीं। इसलिए हे यमराज, इन सब भोगों तथा अप्सरा आदिकों को आप अपने पास ही रखें। मुझे इनकी कुछ आवश्यकता नहीं, मेरे चित्त में केवल आत्मतत्त्व के जानने की उत्कट अभिलाषा है। उसी को पूर्ण करने की कृपा कीजिए" (२६)। क्योंकि:—

"न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा ।
जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव ॥" कठ० १,२७

"धन से मनुष्य कभी सन्तुष्ट तथा तृप्त नहीं हो सकता। क्योंकि धन लाभ से कोई भी मनुष्य लोक में तृप्त हुआ नहीं दीखता। यदि हमने आप से परमतत्त्व को जान लिया तो धन आदि भोग तथा दीर्घ आयु सब कुछ हमें इसी में प्राप्त हो जाएगा। इसलिए मेरा वर तो वही है" (२७)।

भोगों द्वारा किसकी कामना शान्त हुई है ? उलटे कामोपभोग से तो चित्त की चञ्चलता बढ़ती जाती है। कहा है:—

"न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥" मनु २,९४

"विषय भोगों की तृष्णा भोगों के सेवन से कदापि शान्त नहीं हो सकती। प्रत्युत जैसे अग्नि में घी की आहुति डालने से अग्नि की ज्वाला बढ़ती है, वैसे ही भोग रूप इन्धन के डालने से तृष्णारूपी अग्नि की ज्वाला बढ़ती है।" महाभारत में ययाति का

उपाख्यान इस विषय का ज्वलन्त उदाहरण है। ययाति कहता है कि पृथिवी का संपूर्ण धन, धान्य, सुवर्ण, पशु तथा युवतियां किसी एक मनुष्य की तृप्ति भी नहीं कर सकीं। यदि किसी व्यक्ति को इस मे सन्देह हो तो उसे राजाओं, महाराजाओं और चक्रवर्तियों की दशा तथा चरित्र की ओर ध्यान देना चाहिए। अतः इस अग्नि के समान कभी तृप्त न होने वाली भोगतृष्णा का परित्याग ही स्थिर सुख का हेतु हो सकता है। महाराज ययाति अपने अनुभव को बताते हैं कि "विषयासक्त चित्त से मुझे विषय भोगों को भोगते भोगते पूरे सहस्र वर्ष बीत गये परन्तु मेरी भोगतृष्णा शान्त न होकर प्रतिदिन उत्तरोत्तर बढ़ती ही चली जारही है।" मनु महाराज का कथन है:—

"यश्चैतान् प्राप्नुयात् सर्वान् यश्चैतान् केवलांस्त्यजेत् ।
प्रापणात् सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते ॥" मनु० २,६५

"जो मनुष्य अपनी भोगतृष्णा की शान्ति के लिए सब विषयों को प्राप्त करता है तथा जो दूसरा त्याग को तृष्णापूर्ति का साधन मान कर सब विषयों का परित्याग कर देता है। इन दोनों मे विषयो का त्याग करने वाला व्यक्ति ही उत्तम है। क्योंकि विषयों को प्राप्त करने वाले की कामना तो शान्त नहीं होती और उसकी हो जाती है।" जैसे ऊपर के श्लोको में कहा गया है। विषय लोलुप को विषयो के जुटाने मे पर्याप्त कष्ट उठाना पड़ता है और उनकी रक्षा, व्यय तथा नाश से भी हताश होना पड़ता है; इतने पर भी तृष्णा की शान्ति नहीं होती, अतृप्ति पूर्व की अपेक्षा भी बढ़ जाती है। इनके परित्याग करने वाला इन सब बखेड़ों से मुक्त हो जाता है। इसलिए विवेकी नचिकेता पुनः कहता है:—

"अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यः क्वधस्थः प्रजानन् ।
अभिध्यायन् वर्णरतिप्रमोदान् अतिदीर्घे जीविते को रमेत ॥" कठ० १,२८

"हे भगवन् ! किसी के बहुत पुण्य का उदय हो तो वह अजर, अमर, अभय पद को प्राप्त आप सरीखे तत्त्ववेत्ता महानुभावो की शरण मे पहुंचता है। ऐसा होने पर भी यदि वह अखण्ड, सच्चिदानन्द स्वरूप परतत्त्व के ज्ञान तथा प्राप्ति द्वारा अपनी पिपासा को पूर्णतया शान्त नहीं करता तो उसे भाग्यहीन, विवेकभ्रष्ट, विषयलोलुप ही समझना होगा। क्योंकि आप सरीखे श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ ही उस पिपासा को शान्ति करा सकने में समर्थ हैं। ऐसा जानते हुए भी सच्चिदानन्दैकरसस्वरूप आत्मतत्त्व को छोड़ कर, निस्सार, क्षणभंगुर, आपातरमणीय अप्सरा, प्रभुत्व, धन-धान्य आदि भोगो मे किस विवेकी की आस्था तथा रमणेच्छा हो सकती है ? हा ! जिसका सदसद्विवेक और वैराग्य मन्द तथा अस्थिर है वही आप के इन प्रलोभनों मे फंस सकता है" (२८)। इसलिए नचिकेता पुनः यम से प्रार्थना करता है:—

"यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो यत् सांपराये महति ब्रूहि नस्तत् ।
योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते ॥" कठ० १,२९

हे यमराज ! जिस परलोक विषयक, महान् प्रयोजन वाले परात्मतत्त्व के ज्ञान मे बड़े बड़े विद्वानो, देवताओं, योगियो तथा तपस्वियों इत्यादि को भी विविध सन्देह

उत्पन्न होते हैं कि देहान्त के पश्चात् क्या तत्त्व शेष रहता है? उसका क्या स्वरूप है? इस जन्ममरण के चक्र से कैसे छुटकारा हो सकता है इत्यादि? मैं आप से नम्रता पूर्वक प्रार्थना करता हूं कि आप मुझे इस आत्मतत्त्व को निर्णीत ज्ञान, साधन सामग्री सहित बताने की कृपा करें। आप मेरे जिस वर को गूढ़, सूक्ष्म तथा दुर्गम बता रहे हैं मैं इस के अतिरिक्त अन्य किसी वर को मांगने के लिए तैयार नहीं हूं। आगे जैसे आपकी इच्छा हो, मेरा वर तो वही है।

७. श्रेय तथा प्रेय परस्पर भिन्न तथा विरोधी हैं

नानाविध भय तथा प्रलोभनों पर भी नचिकेता जब इन में नहीं फंसा और इस परीक्षा में उत्तीर्ण हो गया, तब यमाचार्य ने यह निश्चित जान लिया कि इसकी परतत्त्व विषयक जिज्ञासा दृढ़ तथा सच्ची है। और दुर्विज्ञेयता रूपी भय और इहामुष्मिक भोगों के प्रलोभन इसके दृढ़ निश्चय में कोई परिवर्तन नहीं कर सके। वह अपने निश्चय पर अटल रहा। उसकी आस्था, योग्यता तथा जिज्ञासा को देख कर यमाचार्य का चित्त हर्ष से प्रफुल्लित हो गया। योग्य अधिकारी को प्राप्त करके विद्यावंश की वृद्धि तथा रक्षा संभव होती है। इसलिए योग्य अधिकारी को पाकर आचार्य का प्रसन्न होना स्वाभाविक था। यमाचार्य प्रसन्नतापूर्वक कहने लगे:—

"अन्यच्छ्रेयो ऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयते अर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते॥" कठ० २,१

परमानन्द रूप निःश्रेयस तथा इन्द्रियों के आपातरमणीय विषय-भोगरूप प्रेयस्, ये दोनो अत्यन्त पृथक् पृथक् तथा भिन्न भिन्न हैं। अतः प्रेय किसी प्रकार भी श्रेय नहीं हो सकता। क्योंकि इन दोनों का प्रयोजन ही भिन्न भिन्न है। अधिकारी के भेद से शास्त्र में इन दोनों का उपदेश वर्णित है। परम निवृत्ति तथा संयमित प्रवृत्ति रूपी धर्म दोनों पुरुष को कर्त्तव्य रूप से बांधते हैं। (रुचि तथा अधिकार के अनुसार) ये विद्या तथा अविद्या रूप वाले होने से परस्पर विरोधी हैं। एक ही पुरुष इन दोनों का युगपद् अनुष्ठान नहीं कर सकता। स्वच्छ मन तथा सूक्ष्म बुद्धि वाला विवेकी पुरुष इन दोनों के वास्तविक स्वरूप का निर्णय करके श्रेय का ग्रहण करता हुआ परमशिव, कल्याणस्वरूप को प्राप्त करता है। परन्तु अदूरदर्शी विमूढ़ शास्त्र-प्रदर्शित भोग-मार्ग के दुष्परिणामों को न समझ कर आपातरमणीय विषय-भोग-मार्ग का अवलम्बन करता है, इसलिए वह पारमार्थिक नित्य, परतत्त्व प्राप्तिरूपी पुरुषार्थ से भ्रष्ट होजाता है।

"श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते॥" कठ० २,२

यद्यपि श्रेयस् तथा प्रेयस् इन दोनों मार्गों में से किसी एक को ग्रहण करने में प्रत्येक मनुष्य पूर्ण स्वतन्त्र है; तथापि मन्द बुद्धि वाला पुरुष इन दोनों के फल तथा साधन के भेद में विवेक नहीं कर सकता; क्योंकि ये परस्पर मिले जुले हुए होते हैं। इसलिए अविवेकी मन्द बुद्धि वाले के लिए इन दोनों के वास्तविक स्वरूप का समझना अत्यन्त कठिन होता है। परन्तु

सूक्ष्म बुद्धि वाला धीर पुरुष अपनी तीव्र विवेक शक्ति से इन दोनों मार्गों के फल तथा साधन भेद को ऐसे पृथक पृथक कर देता है जैसे हंस नीर तथा क्षीर को पृथक पृथक् कर देता है। इसलिए वह श्रेय को अपना इष्ट मान कर इसी को अपना ध्येय निर्धारित कर लेता है। केवल यत्किञ्चित् मार्ग विवेक से कुछ लाभ नहीं होता। इसलिए विवेक के पश्चात् उसके अनुसार अनुष्ठान की आवश्यकता होती है। यह महान धैर्य का काम है। इस पर निरन्तर, निरवच्छिन्न धारा से आचरण करता हुआ धीर पुरुष अन्ततो गत्वा इसके शुभ, स्थिर, शिवरूप फल को पाकर कृतकृत्य हो जाता है। परन्तु अल्पमति सद् सद् विवेक में असमर्थ होने के कारण स्थूल दृष्टि से योग क्षेम (अप्राप्त की प्राप्ति को योग तथा प्राप्त की रक्षा को क्षेम कहते हैं) के निमित्त अर्थात् धन, पुत्र, पशु आदि को प्राप्त करने के लिए प्रेय को ग्रहण करता है। क्योंकि उसकी बुद्धि आपातरमणीय पदार्थों की ओर स्वत ही आकृष्ट हो कर उसे उन्हीं के योग क्षेम में प्रवृत्त होने को प्रेरित तथा बाधित करती है।

८. वैराग्य तथा अनन्य श्रद्धा के बिना आत्म साक्षात्कार सर्वथा असंभव है

श्रेय तथा प्रेय के भेद के सामान्य निरूपण तथा श्रेय की प्रशसा के पश्चात् यमाचार्य नचिकेता की प्रज्ञा की स्तुति करते हुए कहते हैं —

"स त्वं प्रियान् प्रियरूपांश्च कामान् अभिध्यायन् नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः।
नैतां सृकां वित्तमयीमवाप्तो यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः" ॥ कठ० २, ३

"हे नचिकेता ! मेरे बार बार प्रलोभन देने पर भी तूने पुत्र पौत्रादि प्रिय सब स्त्रियों तथा बाजे, गाजे, रथ, अप्सरा आदि प्रिय रूप वाले पदार्थों की, अपनी स्वच्छ, स्थिर, सूक्ष्म बुद्धि से जाच करके इनका परित्याग कर दिया। और यह निर्णय किया कि ये सब रूप तथा सम्बन्ध से प्रिय लगने वाले पदार्थ अनित्य, नि सार, परिणाम में दु खदायी तथा तृष्णारूपी ज्वाला की वृद्धि करने वाले हैं। जिस भोग-मार्ग के प्रवाह में अनेक मूढ पुरुष प्रवाहित हो कर डूबते चले जारहे हैं, तूने उस घृणित, मूढ़-जनोचित, दु खरूप, भोग-मार्ग को अपना ध्येय नहीं बनाया अपितु उसे काकविष्ठा तुल्य घृणास्पद समझा है।' वास्तव में तू रहस्य का सच्चा जिज्ञासु है। तेरी वैराग्य निष्ठा प्रशंसनीय है।

"दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता।
विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त ॥" कठ०२, ४

भोग-मार्ग को शास्त्र-तत्त्वज्ञों ने अविद्या और तापत्रयी के अत्यन्तोच्छेद करने वाले तथा परमानन्द, नित्य एकरस की प्राप्ति कराने वाले निवृत्ति-मार्ग को विद्या कहा है। विद्या तथा अविद्या में तम प्रकाशवत् महान् भेद है। अविद्या का स्वरूप सदसद् अविवेक है और फल त्रिविध दु खमय ससार है। और विद्या का स्वरूप सदसद् विवेक तथा फल नित्य सुखरूप मोक्ष की प्राप्ति है। अत स्वरूप तथा फल भेद से ये दोनों परस्पर अत्यन्त विरोधी हैं। इसलिए किसी एक का दूसरे में समावेश भी असभव है। कोई पुरुष एक समय में दोनों का ग्रहण नहीं कर सकता। किसी एक का ग्रहण करने के लिए

दूसरे का त्याग करना आवश्यक है। यमाचार्य नचिकेता की विवेकशील प्रज्ञा पर मुग्ध होकर प्रसन्नता पूर्वक कहते हैं कि हे वत्स नचिकेता ! निःसन्देह मैं तुम्हें पराविद्या का सच्चा जिज्ञासु, परम पुरुषार्थ का अभिलाषी और औपनिषद तत्त्व के उपदेश का अधिकारी मानता हूं, क्योंकि अविवेकी मूढ़ पुरुषों की बुद्धि व मन को हर लेने वाले ये अप्सरा आदि भोग तुम्हें श्रेय मार्ग से विचलित तथा च्युत नहीं कर सके"।

"न सांपरायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् ।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥" कठ० २, ६

"जो अविवेकी पुरुष सदा धन-धान्य तथा पुत्र-स्त्री आदि सांसारिक भोगों में ही आसक्त रहते हैं, उनकी बुद्धि पुत्र, दारा, धन आदि भोगरूप अन्धकार से आच्छादित हो जाती है। इसलिए उनको शास्त्रोक्त परलोक तथा उसकी प्राप्ति के साधन आदि का पता नहीं लगता। उनकी यही धारणा होती है कि यह उपस्थित लोक ही सत्य है, इस से परे कुछ नहीं है। इस लोक के पुत्र, स्त्री तथा धन आदि की प्राप्ति द्वारा सुखप्राप्ति ही मनुष्य का परमलक्ष्य है। ऐसा मानने वाले मूढ, पामर, लौकायतिक मनुष्य जन्म-मृत्यु रूप मेरे जाल में फंसते हैं, बार बार जन्मते और मरते हैं। वे कभी इस चक्र से छुटकारा नहीं पा सकते। कीट, पतंग, कुक्कुर, शूकर आदि अधम योनियों में उत्पन्न हो होकर पञ्च क्लेश रूप सागर में डूबते रहते हैं"।

"श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः ।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥" कठ० २,७

"भोगों के प्रलोभन अतिलुभायमान, अलघनीय तथा विभ्रम उत्पादक हैं; उन्हें लांघ कर ही मनुष्य आत्म-साक्षात्कार कर सकता है इसलिए वह आत्मबोध अति दुर्लभ है। सहस्रों मनुष्यों में से कोई विरला तुम्हारे जैसा दृढनिश्चयी जिज्ञासु ही आत्म साक्षात्कार-रूपी फल को प्राप्त करता है। आत्मतत्त्वरूप श्रेयविषयक प्रवचन का श्रवण भी अनन्त जन्मों के पुण्य-बल के बिना सम्भव नहीं है। विषयासक्ति, तृष्णा, दैव तथा असंस्कृत अन्तःकरण आदि अनेक प्रतिबंध होने के कारण बहुधा सुविज्ञों द्वारा परतत्त्व-विषयक श्रवण करते हुए भी यह बुद्धि की पकड़ में नहीं आता। इसलिए आत्मतत्त्व-विषयक प्रवचन करने वाला कोई विरला निपुणमति तथा अद्भुत पुरुष होता है। इसका ज्ञाता भी परम आश्चर्य स्वरूप होता है। ऐसे श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य से शिक्षा प्राप्त करके कोई भाग्यवान पुण्यात्मा ही कृतकृत्य होता है।

"नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुविज्ञानाय प्रेष्ठ ।
यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि त्वादृङ् नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा ॥" कठ० २,९

"यह आगम प्रतिपाद्य, आत्मविषयिणी मति तथा स्थिर जिज्ञासा शुष्कतर्क से प्राप्त नहीं हो सकती। श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के बिना इसकी उपज अत्यन्त दुष्कर है। इस लिए ऐसा गुरु न हो तो अन्य अनेक गुरु होने पर भी यह तत्त्व सम्यक् प्रकार से बुद्धि पर आरूढ़ नहीं होता। इस प्रकार की आत्मविषयिणी मति तथा जिज्ञासा का

जिसे तुमने दृढ़ता पूर्वक धारण किया है कुतर्क से खण्डन नहीं किया जा सकता। हे वत्स ! तुम्हारी परतत्त्व विषयक यह जिज्ञासा दृढ़ तथा सच्ची है, तुम्हारा उत्साह अदम्य है, तुम्हारी लगन अनन्य है, तुम्हारा विवेक-वैराग्य प्रशंसनीय है, तुम्हारी आत्मश्रद्धा विलक्षण है। हे नचिकेता ! तुम्हारे सरीखा दृढप्रतिज्ञ, सत्यधृति, विवेकी, परापरवैराग्यनिष्ठ, अनन्य श्रद्धालु, आत्मतत्त्व का जिज्ञासु हो तभी ब्रह्मवेत्ता गुरुओं की विद्या सफल होती है"।

यहां तथा अन्य अनेक स्थलों पर उपनिषदों में सम्यक्तया यह वर्णन किया गया है कि ब्रह्म-विद्या के अधिकार के लिये विवेक-जन्य, अविचल वैराग्य का होना अत्यन्त आवश्यक तथा अनिवार्य है। जिस को नचिकेता के समान दृढ़ वैराग्य नहीं है, वह उपनिषद् प्रतिपाद्य ब्रह्मविद्या का अधिकारी नहीं हो सकता। जैसे ऊपर प्रतिपादन किया गया है कि प्रेय (संसारलालसा-भोग रति) तथा श्रेय (आत्मजिज्ञासा) एक ही मनुष्य में एक ही समय में ये दो विरोधी भाव नहीं रह सकते। तात्पर्य यह है कि जैसे सिकता से तेल प्राप्त नहीं किया जासकता ऐसे ही संसार में आसक्ति होने से आत्म-जिज्ञासा और मोक्ष सर्वथा असंभव है।

दूसरा अध्याय समाप्त।

तीसरा अध्याय

शम-दम

१. विवेक, वैराग्य तथा षट्-सम्पत्ति का महत्त्व और परस्पर सम्बन्ध

जैसे पूर्व अध्याय में वर्णन किया गया है, कि नित्यानित्य वस्तु-विवेक से मोक्ष-मार्ग की सामग्री का सूत्रपात होता है। नित्यानित्य वस्तु-विवेक दृष्टि का भेद मात्र है। इस दृष्टिकोण के भेद पर आगे के सब प्रयत्न तथा व्यवहार अवलम्बित है। अतः जब तक यह दृष्टि उत्पन्न न हुई हो; तब तक मोक्ष के लिए बहिरंग तथा अन्तरंग साधनों का उपदेश निरर्थक है। इस दृष्टि से इस का बहुत महत्त्व है। इसकी दृढ़ता पर अन्य सब की दृढ़ता अवलम्बित है। यह परम-अध्यात्म रूपी प्रासाद की नींव है, परन्तु है नींव ही, जहां से मोक्ष तथा भोगमार्ग पृथक् पृथक् होते हैं। वहां पर यह परम आदरणीय निर्देशक-स्तम्भ (Signal post) जो दोनों मार्गों के अन्तिम ध्येय (लक्ष्य) की ओर संकेत करता है, जिस के न होने पर पथिक उलटे मार्ग पर पड़ सकता है और जितना ही उस मार्ग पर अग्रसर होता है उतना ही अपने ध्येय से दूर होता है। इसलिए इस पथ में इसका विशेष महत्त्व है। वैराग्य (अनित्य वस्तु से विमुखता) तथा मुमुक्षा (नित्यवस्तु की प्राप्ति की इच्छा) इस विवेक का स्वाभाविक परिणाम हैं। इसलिए इस विवेक रूपी निर्देशक-स्तम्भ की जितनी प्रशंसा की जाए थोड़ी है। यह दृष्टि अध्यात्म-पथ के पथिक के मुख को संसार से मोक्ष की ओर फेर देती है। दृढ़ नित्यानित्य वस्तु-विवेक के आधार पर अनित्य, क्षणभंगुर, अस्थिर, सांसारिक भोगों से अरुचि तथा नित्य, अखण्ड, एकरस आनन्द-स्वरूप ब्रह्म की इच्छा स्वाभाविक होती है। इनके लिए विशेष श्रम नहीं करना पड़ता। ये वैसे निरायास होते हैं, जैसे कि मार्ग पर चलते हुए मनुष्य स्तम्भ को देख कर कुमार्ग का त्याग करते हैं और उपयुक्त-मार्ग को ग्रहण करते हैं। परन्तु क्या सन्मार्ग के विवेकमात्र से मनुष्य अपने प्राप्तव्य धाम में पहुंच सकते हैं ? कदापि नहीं ! इसके पश्चात् पथिक को उचित तथा उपयोगी सामग्री के सहित मार्ग पर धीरतापूर्वक अग्रसर होना पड़ता है। इसी प्रकार सामान्य-विवेक द्वारा अथवा शब्द-जन्य नित्यवस्तु की प्राप्ति के लिए कुतूहलमात्र से विशेष लाभ नहीं होता। दृढ़ विवेक, वैराग्य के पश्चात् उपयुक्त सामग्री का सम्पादन करके अध्यात्म-पथ पर चलना पड़ता है, तभी जिज्ञासु को सफलता हो सकती है। इस उपयुक्त सामग्री का नाम ही षट्-सम्पत्ति है और इसे अन्तरंग साधन कहते हैं।

२. षट्-सम्पत्ति का सामान्य निरूपण

"एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्धते कर्मणा नो कनीयान्। तस्यैव स्यात् पदवित्तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेनेति। तस्मादेवं-विच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति सर्वमात्मानं पश्यति। बृहदारण्यक ४,४,२३

यथार्थ में ब्राह्मण वही है जो शुद्ध ब्रह्म को जानता है। अपने इष्टदेव कार्य-कारणातीत ब्रह्म के समान ही उस की महिमा भी नित्य होती है। उस ब्रह्म में कर्मद्वारा न किसी प्रकार की वृद्धि होती है, न कमी। इसलिए ऐसे नित्य महिमा वाले ब्रह्म के स्वरूप को जानना चाहिए, जिसके जानने वाला पुण्य तथा पाप से लिप्त नहीं होता। ब्रह्मज्ञान की नित्य, निर्विकार, कर्म-प्रभाव रहित महिमा को जानने वाला शम, दम, उपरति, तितिक्षा तथा समाधानयुक्त होकर अपने मन में ही आत्मा का साक्षात्कार करता है तथा संपूर्ण संसार को आत्मरूप ही देखता है। जिन लक्षणों से युक्त जिज्ञासु ब्रह्म का दर्शन कर सकता है उनके सामान्य अर्थ का निरूपण किया जाता है। अन्तःकरण की संपूर्ण सांसारिक तृष्णाओं की निवृत्ति हो जाने का नाम 'शम' है। बाह्यकरण अर्थात् चक्षु आदि इन्द्रियों के विषयों में अनासक्त होने को 'दम' कहते हैं। वित्तैषणा, पुत्रैषणा तथा लोकैषणा से मुक्त हो जाने पर विधि के अनुसार कर्मत्याग अर्थात् संन्यास का नाम 'उपरति' है। भूख, प्यास आदि द्वन्द्वों की सहनशीलता 'तितिक्षा' कहलाती है। मन की निश्चल एकाग्रस्थिति का नाम 'समाधान' है।

इस प्रकार साधनचतुष्टय के तृतीय अंग षट्-सम्पत्ति के पांच भागों, अर्थात् शम, दम, उपरति, तितिक्षा तथा समाधान का स्पष्टोल्लेख उपर्युक्त बृहदारण्यक उपनिषद् के वचन में पाया जाता है। केवल एक अंग (श्रद्धा शब्द) का साक्षात् वर्णन यहां उपलब्ध नहीं होता। परन्तु श्रद्धा का भाव तो यहां स्पष्ट उल्लिखित है ही। श्रद्धा से शून्य तो हमारा कोई लौकिक व्यवहार भी नहीं होता। और आध्यात्मिक कृत्य तो शास्त्रादि में श्रद्धा न होने पर सर्वथा असंभव होता है। इसी लिए उपर्युक्त वचनों में कहा है कि शास्त्र में वर्णित ब्रह्मज्ञान की ऐसी नित्यमहिमा को जानने वाला शमादि-साधन सम्पन्न होकर ब्रह्मज्ञान के लिए यत्न करे, अर्थात् नित्यमहिमा में श्रद्धा रखने वाला शास्त्रोक्त उपाय का अवलम्बन करे। इस प्रकार श्रद्धा के भाव का उपर्युक्त वचन में समावेश है। यद्यपि श्रद्धा का महत्त्व अन्यत्र उपनिषद् वचनों में भली प्रकार दर्शाया गया है (जैसे श्वेताश्वतर ६, २३; प्रश्नोपनिषद् १, १०; कठ ६, १२; १३; गीता ४, ३९; आदि)। परन्तु षट्-सम्पत्ति सम्बन्धी इस वचन में श्रद्धा के अन्यत्र से अध्याहार की आवश्यकता नहीं है, भावरूप से श्रद्धा का यहां भी उल्लेख है ही, जैसा कि ऊपर दर्शाया गया है। इस प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् के उपर्युक्त वचन में सम्पूर्ण षट-सम्पति का ही विधान किया गया है। वेदान्त सूत्र (३,४,२७) में भी उपर्युक्त आशय का परामर्श पाया जाता है। षट्-सम्पत्तिरूप अन्तरंग साधन के मूलभूत उपनिषद् वचन का उल्लेख हो चुका, अब क्रमानुसार शम-दम, आदि का निरूपण किया जाता है।

३. शम-दम

शम-दम आदि के बिना वैराग्य केवल नाममात्र है। तीव्र वैराग्य होने पर शम-दम स्वाभाविक होते हैं। शम-दम होने से ही तीव्रवैराग्य सिद्ध होता है। सांसारिक पदार्थों के वाचक, कोरे अनित्यत्व आदि दोषों के विचार मात्र से कुछ फलकी सिद्धि नहीं होती। ये सब अंग परस्पर एक दूसरे के सहकारी हैं। सामान्य-विवेक तथा उससे उत्पन्न सांसारिक भोगों के प्रति साधारण अरुचि (विराग) उत्पन्न होने पर कुछ यत्न आरम्भ होता है।

परन्तु साधारण अरुचि का नाम उपर्युक्त परिपक्व-वैराग्य नहीं है। साधारण-प्रयत्न का आरम्भ इस स्थिति से होता है परन्तु इससे विशेष फलसिद्धि नहीं होती। गीता के छठे अध्याय के मनोनिग्रह प्रकरण में इस सामान्य-वैराग्य का निरूपण नहीं है। अर्जुन श्री कृष्ण भगवान् को कहते हैं।

"चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥" गीता ६, ३४

"हे कृष्ण! (भक्तजनों के पापादि दोषों को अन्तःकरण से बाहर खींचने वाले उन दोषों का मनसे बहिष्कार करने वाले) यह मन केवल अत्यन्त चञ्चल ही नहीं अपितु प्रमथनशील भी है। यह अपने विक्षेप (चञ्चलता) से शरीर तथा इन्द्रियों को कम्पायमान कर देता है; विवश करके अपनी इच्छा (वेग) के अनुसार कुमार्ग में धकेल कर ले जाता है। इसके बल का निरोध कौन कर सकता है? इसका बन्धन अति दृढ़ है। इसलिए इस मन का निग्रह करने को मैं अत्यन्त बलशाली वायु के निग्रह करने के समान अतिदुष्कर, असंभवप्राय मानता हूँ।" वायु महान् वृक्षों को गहरी जड़ोंसमेत पल में उखाड़ कर फेंक देता है, महान्, गम्भीर समुद्र में हल-चल उत्पन्न कर उसे अशान्त कर देता है, यही दशा मन की है, वह इन्द्रियों तथा शरीर में वेग उत्पन्न कर उन्हें क्षुब्ध कर देता है।" श्रीकृष्ण भगवान् उत्तर देते हैं।

"असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥" गीता ६, ३५

"हे महाबाहो! अनन्त पराक्रमी, बलिष्ठ भुजाओं वाले! आपका वचन यथार्थ है। इसमें कुछ भी संशय नहीं कि मन का स्वभाव चंचल तथा अस्थिर है और कठिनता से वश में आने वाला है परन्तु अभ्यास (चित्तभूमि में शनैः शनैः किसी स्थूल अथवा सूक्ष्म प्रत्यय अर्थात् वृत्ति की धारा को चलाने का निरन्तर नियमपूर्वक यत्न करना) तथा वैराग्य द्वारा चित्त के विक्षेप, चञ्चलता रूपी प्रचार का निग्रह हो सकता है।" योगदर्शन में भी हम इसी प्रकार का वर्णन पाते हैं। चित्त-वृत्ति-निरोध के उपायों का वर्णन करते हुए पतञ्जलि ऋषि कहते हैं कि अभ्यास तथा वैराग्य से चित्त-वृत्तियों का निरोध हो सकता है। ऋषि अपने वर्णित वैराग्य के दो भेद करते हैं, पर (उत्तम) तथा अपर (निकृष्ट)। अपर (निकृष्ट) वैराग्य वह है जिसके बिना समाधि (या एकाग्र भूमि) ही असंभव है, अर्थात् जिस के बिना किसी अतिस्थूल विषय में भी चित्त निरन्तर स्थित नहीं हो सकता। यही साधन पाद २, ५४, ५५ में वर्णित प्रत्याहार है।

"अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।" योग १, १२

यह योग का अन्तिम बहिरंग अंग है। अर्थात् प्रत्याहारसिद्धि पर्यन्त साधक वास्तविक योग में प्रविष्ट ही नहीं हुआ होता। प्रत्याहार या अपर वैराग्य मानो योग-प्रवेश का द्वार है। इसके सिद्ध होने से ही वितर्क (स्थूलतम संप्रज्ञात) समाधि के अभ्यास में उसे सफलता हो सकती है। और पर (सर्वोत्तम) वैराग्यसिद्धि के अनन्तर नितान्त सूक्ष्मवृत्ति

(पुरुष, प्रकृति-विवेकख्याति) का भी निग्रह कर द्रष्टा की स्वरूप स्थिति सी होती है। इस अपर वैराग्य का योगदर्शन १, १५ (दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्) सूत्र में निरूपण है। देखो दृष्ट तथा सुने हुए (आनुश्रविक) दोनों प्रकार के विषयों में चित्त की तृष्णा की अत्यन्तनिवृत्ति को वशीकार वैराग्य कहते हैं। भगवान् व्यास योगदर्शन के भाष्य में लिखते हैं कि दृष्ट वे विषय हैं जिनको मनुष्य स्वयं इस जन्म तथा इस लोक में अनुभव करता है जैसे स्त्री, अन्नपान, ऐश्वर्य, राज्यादि। आनुश्रविक वे विषय हैं जिनका केवल शास्त्र में उल्लेख पाया जाता है, उनका यहां साधारण-मनुष्य को अनुभव नहीं होता। वेद अथवा ऋषि-प्रणीत शास्त्रद्वारा ही इनका परोक्ष बोध होता है; इनका साक्षात् अनुभव यथोक्त अधिकारियों को परलोक में होता है। आनुश्रविक विषय तीन श्रेणियों में विभक्त किये गये हैं:—(१) स्वर्ग में इन्द्रत्व आदि के दिव्यभोग (२) वैदेह, सूक्ष्म तथा स्थूल देह से वैराग्यद्वारा प्राप्त देवताओं की लीन अवस्था और (३) प्रकृतिलीन अवस्था, यह अवस्था उस मनुष्य को मरने के पश्चात् प्राप्त होती है, जिसे प्रकृति-पुरुष विवेक तो न हुआ हो। जिससे कि वह संसार चक्र से मुक्त हो जाए, परन्तु 'मैं हूं' इस अहंकारमात्र में भी जिसको हेय-बुद्धि के कारण वैराग्य हो गया हो; इसलिए वह देहत्याग के अनन्तर प्रकृति में लीन हो जाता है। स्वर्ग के दिव्यभोग, विदेह तथा प्रकृतिलय की अवस्थाएं मानवीय भोगों से अत्यन्त रमणीक हैं। परन्तु सभी भोग परिणाम में विष के समान होते हैं। इन सभी भोगों के भोक्ता को कालान्तर में सुख की अपेक्षा महान् त्रिविध-दुःख भोगना पड़ता है। जिन धीरपुरुषों का विषय-दोष-दर्शन रूपी वैराग्य इतना परिपक्व होता है कि इन अत्यन्त मनोहर, दिव्य तथा मानवीय भोगों की अनायासप्राप्ति भी उनके चित्त में कुछ विकार उत्पन्न नहीं करती, उनकी ऐसी तृष्णा-निवृत्ति का नाम ही वशीकार-वैराग्य है। परन्तु जिनका वैराग्य सामयिक होता है, अर्थात् अपने प्रियपदार्थों—पुत्र, स्त्री, अप्सरा आदि के वियोग या नाश से होता है, ऐसा आतुरवैराग्यमात्र या जिनका वैराग्य विषयों की अनुपलब्धि के समय में ही होता है और जिन पर 'अंगूर खट्टे हैं' की उक्ति चरितार्थ होती है, इस प्रकार का नाममात्र का वैराग्य जले हुए बीज के समान कुछ फल उत्पन्न नहीं कर सकता; वह कुछ काल के पश्चात् स्वयं नष्ट हो जाता है। अथवा ऐसा मनुष्य कुछ थोड़ा बहुत तप, त्याग आदि करता है और उसके द्वारा भोगसिद्धि होने पर उसी में आसक्त हो जाता तथा उन्हीं का लम्पट बन जाता है। सफलता तो उसी सच्चे दृढ़ वैराग्य-वान् जिज्ञासु को मिलती है, जिसके सामने नचिकेता के समान महान् भोगों के प्रलोभन उपस्थित होने पर तथा अनेक, अनन्त, रमणीक, मनोहर; दिव्य-विषयभोग प्राप्त होने पर भी, उसके मन में कुछ तृष्णा, लालसारूपी विकार उत्पन्न नहीं होता, प्रत्युत जो इन्हें तृण के समान त्याग देता है। ऐसा वशीकार-वैराग्य ही सच्चा वैराग्य है जो सब रुकावटों को दबा देता है, परन्तु अपने आप यत्किञ्चित् भी किसी प्रतिद्वन्द्वी भोगैश्वर्य के प्रलोभन आदि के वश में नहीं आता, वह संपूर्ण प्रलोभनों पर शासन करता है परन्तु ऐसा महान् बलशाली वशीकार-वैराग्य अकस्मात् ही उत्पन्न नहीं होता। यह तो इस अपर (निकृष्ट) वैराग्य की पराकाष्ठा है। इसके लिए धैर्यपूर्वक, दीर्घकाल तक, निरन्तर प्रयत्न की आवश्यकता होती है। इसकी तीन पूर्वावस्थाएं होती हैं, यतमान, व्यतिरेक तथा एकेन्द्रिय (१) जब साधक पुण्य-सञ्चय के प्रताप से इन्द्रिय-विषय-भोगों

के दोषों को समझने के योग्य होता है, तो वह इस महान् दुष्कर-कार्य में दृढ़निश्चय सहित प्रवृत्त होता है। इस उत्साह तथा यत्न के आरम्भ की प्रथमा अवस्था का नाम 'यतमान वैराग्य' है। (२) कुछ काल यत्न करने पर वह भिन्न भिन्न इन्द्रियों तथा विषयों के बलाबल का विवेक करता है। मनुष्यमात्र की रूप रसादि विषयों में से हर एक में एक सी आसक्ति नहीं होती। किसी को स्वादु भोजन का चसका होता है, तो कोई रूप को अधिक आकर्षक समझता है। रूप आदि के सामान्यतया आकर्षक होने पर भी भिन्न२ साधकों को भिन्न भिन्न रूपों में रुचि विशेष होती है। अतः किन्हीं विषयों के विरोध में साधक विशेष कठिनाई का अनुभव नहीं करता। परन्तु कई विषयों में वह अपने आप को नितान्त विवश पाता है। उनका पाश तथा शासन अति बलिष्ठ है, जिसका उसके मन पर पूरा राज्य होता है। अथवा ,स प्रकार कहा जा सकता है कि वह विशेष विषय, साधक के विरोधी दलरूप-मोह, आसक्तिरूपी प्रजा का राजा है। जिसकी छत्र छाया में अन्य साधारण प्रलोभन भी साधक को दबा लेते हैं। अतः इस प्रकार के अति बलवान, प्रधानइन्द्रिय का एवं उसके प्रलोभन-स्थल रूप आदि का परिज्ञान आवश्यक है। और उस पर विजय पाना अत्यन्त आवश्यक है। इसके बिना इन्द्रियों की विजय कुछ फल उत्पन्न नहीं कर सकती। क्योंकि एक ही उन्मत्त इन्द्रिय सब प्रयत्नों को धूलि में मिला देती है। इस प्रकार अधिक बलवान् विषय का विवेक तथा उसके वश करने के लिए प्रयत्न को 'व्यतिरेक-वैराग्य' कहते हैं। (३) एकेन्द्रिय वैराग्य का साधक दीर्घकाल तक धैर्य से विचार, हठ आदि योग्य उपायों द्वारा निरन्तर युद्ध करने पर बाह्य पांचों इन्द्रियों पर विजय पा लेता है। अब तृष्णा, आसक्ति में इतना बल नहीं रह गया कि वह उसे बाह्य व्यवहार में प्रवृत्त कर सके। अब वह बाह्येन्द्रियों द्वारा विषयों का सेवन नहीं करता। परन्तु मन में सूक्ष्म राग है। विषयों का दर्शन तथा चिन्तन मन में कुछ धीमी सी गति उत्पन्न करते हैं। उनके भोग की मन्द सी लालसा मन में उत्पन्न होती है, परन्तु उसमें इतना बल नहीं होता कि वह शरीर तथा इन्द्रियों में क्षोभ उत्पन्न कर सके। परन्तु साधक यदि यहां पर ही सन्तुष्ट हो जाय तो उसको पूर्ण शान्ति नहीं हो सकती और न वह अभ्यास आदि का अन्य कोई उपयोगी उपाय ही कर सकता है। क्योंकि यही विक्षिप्तचित्त की दशा है। यह मानसिक वासना अधिक काल तक चित्त को निरन्तर स्थिर नहीं रहने दे सकती। मन में तृष्णारूपी बीज अभी जीवित है, यद्यपि वह निर्बल है, परन्तु प्रमाद में पुनः बल प्राप्त करके सम्पूर्ण शरीर तथा इन्द्रियों पर पहिले के समान ही प्रभुत्व जमा सकता है। अतः यहां पर बहुत सावधानी की अपेक्षा है। इस वासना को मनरूपी भूमि से भी निर्मूल करना अत्यावश्यक है। इस अवस्था में दम तो सिद्ध है परन्तु शमसिद्धि का अभाव है। इस अवस्था का नाम 'एकेन्द्रिय-वैराग्य' है।

शम के भी पूर्णतया सिद्ध हो जाने पर वशीकार वैराग्य सिद्ध होता है। जैसे मस्त हाथी तृण समूह को अपने पैरों तले रौंद देता है, उसी प्रकार साधक जब सब प्रलोभनों को व्यर्थ कर देता है, तब ऐसी वैराग्य की स्थिति होने पर पातञ्जल योग में वर्णित समाधि आरम्भ हो सकती है।

हठयोग की षट् क्रिया वस्ती, धौती आदि अथवा प्राणायाम द्वारा चित्त का रजोगुण तथा विक्षेप कुछ शान्त होते हैं। इस अवस्था को ही कई अनभिज्ञ साधक समाधि

समझने लगते हैं। आजकल योगविषयक यह भ्रान्ति साधकों में बहुत फैली हुई है। यमनियमों के पालन द्वारा व्यवहार तथा मन को निर्मल नहीं किया जाता, वशीकार-वैराग्य की उपेक्षा की जाती है और केवल हठयोग आदि के उपर्युक्त साधनों द्वारा योग-साधना की धृष्टता की जाती है। उपवास आदि द्वारा मन के रजो-गुण रूप शक्ति की केवल तात्कालिक कमी से चित्त असमर्थ होकर अपनी चञ्चलता को इस समय त्याग देता है। यद्यपि इस सस्ते मार्ग से बहिर्मुखी संस्कारों तथा विषयभोग की वासनाओं में कुछ कमी नहीं होती। इस क्षणिक चित्त की स्थिरता तथा शान्ति को पातञ्जल योग में वर्णित किसी प्रकार की समाधि नहीं कही जा सकती। ऋषि ने (योगदर्शन १, १२, में) वृत्तिनिरोध के उपायों में असंदिग्ध रूप से उपर्युक्त वैराग्य तथा अभ्यास का विधान किया है। इसलिए साधकों को इस भ्रान्ति से भली भांति सचेत रहना चाहिए।

४. शम का तात्पर्य

अन्तःकरण का निग्रह अर्थात् सांसारिक पदार्थ-विषयक बुद्धि-व्यापार अथवा मानसिक-चिन्तन का त्याग तथा अपने अधिकार के अनुसार जिज्ञासु का अपने मन को *श्रवण, मनन, निदिध्यासन में ही लगाए रखना* और सांसारिक पदार्थों में केवल उतना ही मनोयोग देना जितना श्रवण आदि के लिए अनिवार्य हो, शम कहलाता है। इस प्रकार शास्त्र में शम के दो अर्थों का वर्णन है, एक अभावात्मक तथा दूसरा भावात्मक। (१) शमयुक्त मन में संसारमात्र के चिन्तन, विषयभोग की लालसा वा चिन्तन का नितान्त अभाव होता है। अतः संसार की अपेक्षा से शम का स्वरूप अभावात्मक है। इसमें तथा वशीकार-वैराग्य में कोई अन्तर नहीं है। (२) यदि जिज्ञासु अपने अधिकार के अनुरूप उचित श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन में ही अपने मन को सर्वदा लगाए रखे। अथवा सासारिक पदार्थों तथा व्यवहारों में उतना ही मनोयोग दे, जो कि शरीर-यात्रा के लिए अत्यन्त आवश्यक है; जिस के बिना श्रवण आदि साधनों का अनुष्ठान भी असंभव है; तो मन की ऐसी दशा को भी शम कहा जा सकता है। ऐसी अवस्था में शम के प्रथम भाव में तो कोई न्यूनता नहीं आती। क्योंकि ऐसी दशा में संसारचिन्तन का अभाव तो विद्यमान होता ही है और साथ ही उसके विरोधी आत्म-चिन्तन रूपी धारा का भाव भी मन में रहता है। अतः इस को हम अभाव तथा भावात्मक भी कह सकते हैं। इस में वशीकार-वैराग्य तथा अभ्यास (आत्म-चिन्तन) दोनों का समावेश है। इसलिए यह अधिक उपयोगी, वेदोक्त-साधना की दृष्टि से अधिक भाव-पूर्ण तथा उपादेय है।

५. दम का अर्थ

शम की तरह दम के भी दो अर्थ हो सकते हैं। (१) अभावात्मक—बाह्य इन्द्रियों को विषयभोग की दृष्टि से विषय सेवन से पृथक् रखना। (२) भावात्मक—बाह्यइन्द्रियों को खान-पान आदि के लिए केवल उतना ही उपयोग में लाना जिससे शरीर का निर्वाह हो सके और ब्रह्म-प्राप्ति रूपी परमलक्ष्य सिद्धि के साधन श्रवण, मनन आदि के लिए उपयुक्त सामर्थ्य बनी रहे। तथा इनका उपयोग श्रवणादि के सहायक रूप से ही करना। जिन इन्द्रिय-व्यापारों का अन्तिम लक्ष्य की सिद्धि से किसी प्रकार का सम्बन्ध न हो, ऐसे व्यर्थ तथा

हानिप्रद व्यापारो (चेष्टाओं) से पृथक् रहना। इस प्रकार जहाँ प्रथम भाग इन्द्रियों का केवल विषयभोगरूप (परमलक्ष्य सिद्धि मे बाधा) का त्याग है; वहा द्वितीय भाग में उपर्युक्त इन्द्रिय-दुरुपयोग के त्यागसहित इन्द्रियों का श्रवण मनन के लिये सदुपयोग भी सम्मिलित है।

जब यह उपनिषद्-शिक्षा का अधिकारी सब इन्द्रियो को उनके अर्थों विषयों से पृथक् कर लेता है, विषयो की ओर नहीं जाने देता जैसे कि कछुआ भय के समय अपने सपूर्ण अगो को भीतर सिकोड़ लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर हो सकती है, अन्यथा पद-च्युत हो जाती है। इस विषय मे बहुत सावधानी की आवश्यकता है। क्योकि ये इन्द्रियां अति बलवान् हैं। ये विवेकी तथा यत्नशील मनुष्यो के मन मे भी अत्यन्त वेग तथा चञ्चलता उत्पन्न कर देती हैं और बलात् विषयभोग में प्रवृत्त कर देती है। जो मन विषयो मे व्यापार करने वाली इन्द्रियो के पीछे लग जाता है, वह उसकी बुद्धि के आत्मानात्मविवेक को ऐसे हर लेता है, जैसे वायु नाव को बलात् सन्मार्ग से कुमार्ग मे ले जाकर यात्रियो का सर्वनाश कर देती है। (गीता २, ५८; ६०; ६७.)

हिरण, हाथी, पतगा, भ्रमर तथा मछली येप्राणी कान (बांसुरी), स्पर्श (कागज की हथनी), चक्षु (दीपक का रूप), घ्राण (पुष्पगंध) तथा रसना (रस-आटे-की गोली) मे से क्रम से एक एक इन्द्रिय के वश मे होने से सर्वनाश को प्राप्त होते हैं। फिर जो मनुष्य अकेला इन पांचो के ही वश मे है, वह कैसे बचेगा। एक भी बलवान् इन्द्रिय महान् अनर्थ कर सकती है। यदि सब इन्द्रियों मे से कोई एक भी इन्द्रिय वेग से बिना रोक थाम के विषय की ओर स्वच्छन्द रूप से विचरे तो वही पुरुष के तत्त्व-ज्ञान का नाश कर देती है। जैसे किसी पात्र मे यदि एक छोटा सा अति क्षुद्र छेद भी हो तो वह ही सारे जल को बहा देता है।

उपर्युक्त शास्त्र तथा महापुरुषो के अनुभवपूर्ण वचनो से यह तथ्य असंदिग्ध रूप से निर्धारित होता है कि यद्यपि इन्द्रियां ससार-यात्रा के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं; इनके बिना, मनुष्य अपने इहलौकिक तथा पारलौकिक हित साधन में असमर्थ हो जाता है, उसका जीवन अपने तथा दूसरो के लिए भाररूप हो जाता है; तथापि इन्द्रियों का यह महत्त्व तभी तक है जब तक ये मनुष्य के अधीन हो, मनुष्य इनका स्वामी हो। और ये इन्द्रियां सहज ही विवेक द्वारा निर्धारित लक्ष्य की ओर चल पड़ें। परन्तु जब इनका प्रवाह सांसारिक विषयों की ओर बिना किसी रोकथाम (brake) के चलता है, जब ये अपने अधिकारोचित सेवक के स्वभाव तथा कार्य को त्याग कर स्वामी के पद को छीन कर उस पर आरूढ हो जाती हैं, मनुष्य पर शासन करने लगती हैं, पथिक को विवेक-पथ से भ्रष्ट कर विषय भोग रूपी कुमार्ग मे बलात् ले जाती हैं, उस समय ऐसी उन्मत्त, विषयलोलुप इन्द्रिया महान् अनर्थ का हेतु बन जाती हैं; और तब मनुष्य का जीवन साक्षात् नरक का रूप धारण कर लेता है। किसी अनुभवी वैद्य ने सत्य कहा है कि मनुष्य अपने दातो से कब्र खोदता है। अर्थात् रसना इन्द्रिय के अधीन होकर अनुचित और अमर्यादित आहार का सेवन करता है और इस लिए अनेक रोगो मे ग्रस्त हो कर अन्त मे मृत्यु के मुख मे चला जाता है। किसी कवि ने कैसे सुन्दर रूप से इस विषय का वर्णन किया है

कि हिरण आदि श्रवणादि एक एक इन्द्रिय के वश मे हो कर अपने प्राणो तक से हाथ धो बैठते हैं। इसलिए जहां ये इन्द्रियां सेवक रूप से शरीर-यात्रा के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं; वहां यही उन्मत्त तथा स्वतन्त्र होने पर प्राणी के सुख, सपत्ति तथा जीवन के हेतु प्राणों को भी क्षण भर मे हर लेती हैं। सांसारिक धन, धान्य, भूमि, ऐश्वर्य, मान, राज्य तथा दीर्घायु आदि भी उन शूरवीरों को ही सुख से प्राप्त होते है जिन की इन्द्रिया वश मे होती हैं, जो इन्द्रियो को उपर्युक्त मर्यादा मे चला सकते हैं, इन्द्रियो के दास तो पग-पग पर ठोकरें ही खाते हैं।

श्रेय तथा प्रेय अत्यन्त भिन्न तथा परस्पर विरोधी है। जब इन्द्रियों के दास को सांसारिक वैभव, मानादि ही दुर्लभ है, तो उसको आध्यात्मिक शान्ति तथा आनन्द की क्या आशा हो सकती है। इन्द्रियो के पीछे चलने वाला मन अत्यन्त चञ्चल तथा अशान्त रहता है। उसकी भोग द्वारा कदापि तृप्ति नहीं हो सकती, प्रत्युत भोग से उसकी लालसा प्रतिदिन बढती जाती है। और ऐसा पामर प्राणी दिन-रात तृष्णा की ज्वाला में जला करता है।

जो मन बहिर्मुखी है, सदा इन्द्रियो तथा उनके विषयो के पीछे मारा मारा फिरता है; वह अत्यन्त सूक्ष्म, अन्तर्तम, आनन्द-स्वरूप परमात्मतत्त्व की रेखा को कैसे निहार सकता है। इन्द्रिय भोग तथा आत्मानन्द, तम तथा प्रकाश के समान अत्यन्त विरोधी हैं।

किसी नौका के जल में डूबने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह कई स्थलों से टूटी फूटी हो अथवा उसके पेंदे मे अनेक बड़े बडे छेद हो, प्रत्युत एक क्षुद्र छिद्र भी उसको डुबा देने के लिए पर्याप्त है। अन्तर केवल इतना है कि ऐसी दशा मे नौका में जल भरने के लिए समय कुछ अधिक चाहिए; समय पाकर डूब तो वह अवश्य जाएगी ही। इसी प्रकार मनुष्य के अधःपतन तथा सर्वनाश के लिए यह जरूरी नहीं कि वह सब इन्द्रियो का दास हो; एक ही उन्मत्त तथा अवश हुई इन्द्रिय इसको आध्यात्मिक लक्ष्य से भ्रष्ट करने के लिए पर्याप्त है। अन्य इन्द्रियो पर इसकी विजय पाना अन्ततः इसके किसी काम नहीं आएगा। एक ही बलवान् तथा स्वतन्त्र इन्द्रिय किये कराए पर पानी फेर देती है। इसलिए परमानन्द तथा आध्यात्मिक जीवन के अभिलाषी को चाहिए कि वह बहुत साव-धानी से सम्पूर्ण इन्द्रियों पर अपना अखण्ड शासन स्थापित करे।

मनुष्य मे दैवी तथा पाशविक अर्थात् आसुरी स्वभाव मिले जुले पाये जाते हैं। यद्यपि मनुष्यमात्र मे दैवी वृत्तियों के विकास के लिए अवकाश जरूर होता है। उस मे शक्ति तथा बीज रूप मे यह विद्यमान अवश्य होते हैं। परन्तु साधारणतया जन्मकाल से ही पाशविक स्वभावों का प्रभुत्व होता है, जो दैवी स्वभाव के बीज को पनपने नहीं देता। शिक्षा तथा अपने श्रम के बिना मनुष्य खड़ा होना भी नहीं सीख सकता। इसी प्रकार पाशविक वृत्तियों को नियन्त्रित करने के लिए सामाजिक-शिक्षा, महान् प्रयत्न तथा अदम्य-धैर्य की आवश्यकता होती है। इन्द्रियो के विजय करने का कार्य किसी राजनीतिक युद्ध से अधिक कठिन है। नीतिनिपुण विद्वान्, शास्त्रनिष्णात पण्डित, जगद्विख्यात राजा महाराजा, शत्रुओ का मान मर्दन करने वाले शूरवीर तथा सहस्रों के साथ अकेले

लड़ने वाले योद्धा इन्द्रियों की दासतारूपी कड़ियों में जकड़े हुए होते हैं। इन निकटतम शत्रुओं को जीतना किसी विरले, भाग्यवान्, धीरपुरुष का ही काम है। इस युद्ध में विजय पाना दिनों, महीनों या वर्षों का काम नहीं है, यह तो जन्म-जन्मान्तर का खेल है। जो धीरपुरुष चोट पर चोट खाता है, परन्तु इन के साथ किसी प्रकार की संधि या सहयोग करना स्वीकार नहीं करता, वही इन को जीत कर सच्चा, स्थिर स्वराज्य प्राप्त कर सकता है। इन उन्मत्त इन्द्रियों के साथ असहयोग (अर्थात् विषय-लालसापूर्वक इनका उपयोग न करना) ही यथार्थ उपाय है। जो यहां सफलता प्राप्त कर सकता है, वह कहीं विफल मनोरथ नहीं होता, बाह्य साम्राज्य उसके लिए एक खेल सा हो जाता है।

६. शम

परन्तु मन की अशुद्ध वासना को निर्मूल किये विना दम की पूर्णता असम्भव है। विषयों का चिन्तनमात्र भी महान् अनर्थ का हेतु है। शब्द आदि विषयों का मन से चिन्तन करने पर उन में प्रीति तथा आसक्ति उत्पन्न हो जाती है। आसक्ति से तृष्णा, तथा तृष्णा का प्रतिघात होने से क्रोध उत्पन्न हो जाता है। क्रोध से सत्यासत्य विवेक का नाश हो जाता है। फिर शास्त्र तथा आचार्य के उपदेश की स्मृति का अवसर नहीं होता और न इष्टानिष्ट विचार करने की योग्यता बुद्धि में रहती है। तब उसके सर्वनाश होने में क्या सन्देह है? (गीता २, ७३)

जो व्यक्ति हस्तपादादि कर्मेन्द्रियों को रोक कर मन द्वारा इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन करता है वह दम्भी है। दम्भमात्र से क्या सिद्धि होगी। (गीता ३, ६)

मन के विषय में प्रमाद तो नहीं करना चाहिए, परन्तु संस्कार-जन्य मानसिक चिन्तन का नितान्त बन्द करना बहुत धैर्य का कार्य है। कई बार साधक को माया वञ्चना में डालती है और वह सोचता है कि मन चिन्तन तो छोड़ता नहीं, कई बार विरोध के कारण सामान्य दशा से भी अधिक वेगवान् हो जाता है। अतः केवल बाह्य इन्द्रियों को हठ से रोकना निष्फल तथा दम्भ मात्र है। ऐसा मान कर वह बाह्य इन्द्रिय दमन को भी त्याग देना चाहता है। परन्तु यह उस की भूल है। जैसे पहले वैराग्य प्रकरण में एकेन्द्रिय वैराग्य के सम्बन्ध में लिखा गया है कि मन से विषयचिन्तन या संस्कार-मात्र का उन्मूलन कर देना वैराग्य की अन्तिम अवधि है, किन्तु यहां से आरम्भ नहीं हो सकता। आरम्भ तो बाह्येन्द्रियों से ही होगा। शनैः शनैः धैर्य से विचारपूर्वक निरन्तर प्रयत्न करने से मन भी अन्ततः शुद्ध हो जायगा। ऐसी दशा में घबरा कर मन की चाल में नहीं आ जाना चाहिए। परमहंस स्वामी सियाराम जी ने कहा है—"हठ से विषय-सेवन का त्याग करो एवं विचार से संस्कारों को छिन्न भिन्न करो।" अतः हठ तथा विचार दोनों उपयोगी हैं। शुद्ध, दृढ वैराग्य तथा केवल त्याग में यही अन्तर है। किसी वस्तु के पास न होने के कारण उसका उपयोग न करना तो त्याग नहीं कहलाता। अन्यथा एक एक दाने के लिए तरसने वाले, इतस्ततः भटकने वाले भिखमंगे, कंगले भी त्यागी कहलाते। विषयों की प्राप्ति का अवसर होने पर भी जो उन का ग्रहण नहीं करता उसे ही त्यागी कहा जा सकता है। ऐसे मनुष्य भी कभी २ दूसरों पर अपने त्याग का प्रभाव डाल कर अधिक धन आदि बटोरने के लिए ऐसा करते हैं। अथवा यह त्याग मान प्रतिष्ठा के लिए भी हो सकता है। सांसारिक मनुष्य

अपने नाम के लिए क्या-क्या त्यागने के लिए उद्यत नहीं हो जाते। परन्तु यह सब प्रकार का त्याग, त्याग नहीं है, दम्भमात्र है। इस से इस लोक में भी स्थिर ऐश्वर्य या प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं होती और परलोक में तो यह त्याग का दम्भ महान् अनर्थकारी सिद्ध होता ही है। भगवान् कृष्ण ने ऐसे नाममात्र के त्याग की ही उपर्युक्त गीता के श्लोकों में निन्दा की है। परन्तु ऐसे सुविज्ञ सज्जन भी होते हैं, जो शुद्ध भावना से विवेक के बल पर भोग के अनेक दोषों का चिन्तन करते हुए विषयों का ग्रहण तथा भोग नहीं करते। अपनी शारीरिक आवश्यकताओं की भी कुछ परवाह न करते हुए तप और त्याग को ही अपना धन समझते हैं। वे इन सांसारिक भोगों को महान् अनर्थ का हेतु जान कर इन को प्राणों के शत्रु मानते हुए इन से दूर भागते हैं। यह इन्द्रिय-दमन की पराकाष्ठा है; इस में दम्भ का लेश भी नहीं है। परन्तु जन्म-जन्मांतर की वासना का मूल बहुत गहरा होता है; विषयों की लालसा अभी मन में है, अभी विषयभोग में सुख-बुद्धि का नितान्त अभाव नहीं हुआ, जो कि त्याग की पराकाष्ठा है। क्योंकि सुख-बुद्धि नितान्त शिथिल नहीं हुई, अतः यह सच्चा शुद्ध त्याग ही है, वशीकार-वैराग्य नहीं। अभी शम पूरा सिद्ध नहीं हुआ। इसी अवस्था का वर्णन गीता में है:—

"विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥ गीता २, ५६

"यद्यपि विषय अर्थात् विषयभोग के साधनभूत इन्द्रियां, दमनरूप कष्टमय तप में स्थित देहाभिमानी मनुष्य की भी (जो विचार अथवा ईश्वरभजन का आश्रय नहीं लेता; अथवा जिसके ये साधन अभी परमफल उत्पन्न नहीं कर सके) विषयोपभोग से हठपूर्वक निवृत्त रहती हैं; ये तो केवल उसी प्रकार शिथिल सी जान पड़ती हैं जैसे अन्न का आहार न देने से, (निराहार कर देने से) शरीर दुर्बल हो जाता है और इन्द्रियां शिथिल हो जाती हैं। परन्तु मन से विषयों की तृष्णा (राग) नहीं जाती। वह सूक्ष्मराग (तृष्णा) भी परमार्थ-रसस्वरूप ब्रह्मतत्त्व के साक्षात्कार से निवृत्त हो जाता है। परमरस के अनवच्छिन्न निरायास प्रवाह के बिना यह विषयरस का अनादिस्रोत शुष्क नहीं होता। यही शम की परमावधि है। यहां पहुंच कर पुरुष नितांत निर्भय हो जाता है। यही इन्द्रियों की परमविजय है। यही सच्चा प्रत्याहार है, जब कि इन्द्रियां अपने स्वामी मन के नितांत विषयरस से रहित होने के कारण अपनी पूर्व की रजोगुण-प्रेरित चञ्चलता को त्याग कर परम उपरामता को प्राप्त होती हैं। जैसा कि योगदर्शन में पतञ्जलि मुनि ने वर्णन किया है। स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः॥ योग० २,५४

"सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥ गीता ३, ३३
इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपंथिनौ॥" गीता ३, ३४

गीता के उपर्युक्त श्लोकों में प्रकृतस्वभाव की प्रबलता तथा इन्द्रियों का अपने विषयों में सम्यक् स्थित रागद्वेष केवल प्राकृत रजोगुण प्रधान-अज्ञानी अथवा शास्त्र-पण्डितमात्र के विषय में है। ऐसी अवस्था में ही शास्त्र का उपदेश है कि इन्द्रियों के अपने-अपने विषयों में रहने वाले ऐसे स्वाभाविक रागद्वेषों के वश में नहीं होना चाहिए। इनके वश में होकर स्वधर्म परित्याग अथवा अधर्म का अनुष्ठान नहीं करना चाहिए। "योगदर्शन (२, ३३, ३४) में वर्णित और परधर्मप्रतिपक्षभावना (अर्थात् मोह के वश होकर शास्त्र विरुद्ध आचरण करने से अनन्तदु:ख तथा अज्ञान फल होता है) के पुनः-पुनः मनन से इन्द्रियों के विषयों में, रागद्वेष के वश में नहीं आना चाहिए। प्रकृति के वशवर्ती न होकर शास्त्रानुगामी होना चाहिए। क्योंकि ये रागद्वेष इस साधक के श्रेय-मार्ग में भयंकर बाधारूप हैं। इससे कदापि प्रमाद नहीं करना चाहिए। नहीं तो प्राणपण से की हुई, गाढ़े पसीने की कमाई क्षणभर में लुट जाएगी।" यह अमूल्य चेतावनी रजो-गुण प्रधान मन तथा इन्द्रियमुक्त साधक के लिए है। उसे इस पर अवश्य कटिबद्ध हो जाना चाहिए। परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि अन्तःकरण तथा इन्द्रियों का यह स्वाभाविक धर्म है जो इनके होते हुए कभी नाश नहीं हो सकता। यदि ऐसा हो तब तो ज्ञान, ध्यान आदि सब निरर्थक हैं। यदि शरीर के रहते यह विषय-युद्ध सर्वदा बना रहना हो और किसी प्रकार से छूट ही न सकता हो तो यह दशा अत्यन्त शोचनीय होगी। यह संसार ऐसा अनर्थरूप होगा, जिससे जीते जी छुटकारा पाने की कोई संभावना न रह जाएगी। फिर तो ज्ञान ध्यान के स्थान में अफीम के एक तोले का अधिक महत्त्व होगा और वह अनिवार्य होगा, क्योंकि तब उसीसे अशान्ति का नाश होने की सम्भावना हो सकेगी। कई चतुर व्यक्ति अपनी तथा सामान्य भोले मनुष्यों की वञ्चना करते हुए कहा करते हैं कि ज्ञानी और अज्ञानी के व्यवहार एक जैसे ही होते हैं। इस प्रकार के कोरे शब्दज्ञान से परमध्येय की सिद्धि नहीं हो सकती, यह तो महान् अनर्थ करने वाला ही होता है। परन्तु जैसे ऊपर कहा गया है कि ये रागद्वेष रजोगुण-युक्त अन्तःकरण तथा इन्द्रियों में ही स्वाभाविक होते हैं। परन्तु जब साधक गुरु तथा शास्त्र की शरण में आजाता है और उपर्युक्त साधना के पश्चात् उसके मन में उस स्थिति का उदय होता है, जब चित्तप्रसाद की निर्मलधारा स्वच्छन्द रूप से निरन्तर बहने लगती है तथा अन्तः-करण में मूल सत्त्वगुण का प्रचण्ड प्रकाश हो जाता है, तब वहां अज्ञान रूपी तिमिर तथा उसकी सन्तान रागद्वेषादि का ढूंढे पता नहीं चलता। ये रागद्वेष उस स्थिति में शशशृङ्ग तुल्य हो जाते हैं। यहीं पर अद्वैत-ज्ञान का स्वरूप भासने लगता है। इस स्थिति में यदि संसार दीखता भी है तो अत्यन्त निराला, इसका पहला लुभायमान स्वरूप छिप जाता है। वह अत्यन्त नीरस तथा तुच्छ भासता है। उस वास्तविक नीरस दिखाने वाली स्थिति के बिना सांसारिक विषयों की तुच्छता कोरे तर्क से समझ में नहीं आ सकती। इस विस्मय-कारी मनोदशा के विषय में वैराग्य के परमोपदेष्टा श्री भर्तृहरि महाराज ने ठीक ही कहा है:—

> "यूयं वयं वयं यूयमित्यासीन्मतिरावयोः।
> किं जातमधुना येन यूयं यूयं वयं वयम्॥" भर्तृ० वै० श० ६५

— "कि हे मित्र! पूर्वकाल में ऐसी बुद्धि थी कि तुम हम थे और हम तुम थे। अर्थात्

इतनी आसक्ति तथा प्रेम था कि भिन्न भिन्न शरीर होते हुए भी (ज्ञानविवेक दृष्टि से नहीं अपितु मोहवश) अभेद ही प्रतीत हो रहा था। परन्तु अब पता नहीं, क्या कारण है कि तुम तुम भासते हो और हम हम भासते हैं अर्थात् वह अज्ञान ग्रन्थि जिसने अनात्म को आत्मरूप बना रखा था छिन्न भिन्न हो गयी है और याथातथ्य दृष्टि प्राप्त हो गयी है।"

"बाले लीलामुकुलितममी मन्थरा दृष्टिपाताः।
किं क्षिप्यन्ते विरम विरम व्यर्थ एव श्रमस्ते॥
सम्प्रत्यन्ये वयमुपरतं बाल्यमास्था वनान्ते।
क्षीणो मोहस्तृणमिव जगज्जालमालोकयामः॥" भर्तृ० वै० श० ६६

"हे सुन्दरि! अब तू लीला से अपनी आधी खुली आखो से मुझ पर क्यो कटाक्ष-बाण चलाती है? अब तू काममद उत्पन्न करने वाली दृष्टि को रोक ले; तेरे इस परिश्रम से तुझे कुछ लाभ नहीं होगा। क्योकि अब हम पहले जैसे नहीं रहे। अब हम ने वन मे एकान्त रह कर भगवद्-भजन मे ही आयु व्यतीत करने का निश्चय कर लिया है। इसी लिए अब हम विषयसुखो को तृण से भी तुच्छ समझते हैं॥ १॥

"रे कन्दर्प करं कदर्थयसि किं कोदण्डटङ्कारितैः
रे रे कोकिल कोमलैः कलरवैः किं त्वं वृथा जल्पसि।
मुग्धे स्निग्धविदग्धमुग्धमधुरैर्लोलैः कटाक्षैरलं
चेतश्चुम्बितचन्द्रचूडचरणध्यानामृतं वर्तते॥" भ० वै० श० १००

अरे कामदेव! तू धनुष्टंकार सुनाने के लिए क्यो बार २ हाथ उठाता है। अरे कोकिल! तू मीठी-मीठी सुहावनी आवाज मे क्यो कुहु-कुहु करता है, हे काम-परायणे युवति! तू अपने मनमोहक मधुरकटाक्ष मुझ पर क्यो चलाती है, अब तू मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकती, क्योंकि अब मेरे चित्त ने भगवान् शिव के चरणकमल चूम कर अमृतपान कर लिया है।

ऐसी अवस्था मे यह प्रतीत नहीं होता कि दिन-रात विषयरूपी कण्टको मे घसीट कर लोहू-लुहान करने वाली इन्द्रियां कहा चली गई हैं। मानो अब वे शरीर मे हैं ही नहीं, अब विषयों मे रागद्वेष कहां? मनु महाराज ने कहा है:—

"श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः॥" मनु २,६८

"स्तुति तथा निन्दा वाक्य, मधुरगीत तथा कर्कशशब्द को सुनकर, दुकूल, दुशाला आदि नरमस्पर्श तथा खुर्दरे कम्बल आदि दुःखदायी स्पर्शवालो को छूकर; मनोहर अथवा घृणित रूप को देखकर; स्वादु या अस्वादु भोजन को खाकर; सुगन्ध तथा दुर्गन्ध को सूघ कर; जो मनुष्य न हर्ष करता है और न ग्लानि, वही सच्चा जितेन्द्रिय है।" साधारण प्राकृतजन की तरह सुन्दररूप को देखकर वह अति प्रसन्न नहीं होता इसके लिए उसके

मन में किसी प्रकार का मोह, आकांक्षा या तृष्णा उत्पन्न नहीं होती। और कुरूप को देखकर उसे घृणा नहीं होती एवं न सामान्य साधक के समान स्वादु मिष्ठान्न से उसे द्वेष ही होता है। उसके मन में इन लड्डू, मालपुआ आदि स्वादिष्ट पदार्थों के लिए कोई आसक्ति नहीं रही जिस के कारण उसे लोभ-मोह के वश होकर परमध्येय से च्युत हो जाने तथा कुपथ में चलकर पुरुषार्थ से भ्रष्ट हो जाने का भय हो। इसीलिए उसे इस प्रकार की किसी सावधानी की आवश्यकता नहीं रहती कि वह सामान्य रोटी को भी गंगाजल से धोकर खाए और साधक के समान (उसके स्वाभाविक, उचित तथा अत्यन्त उपयोगी त्याग से प्रेम और विषयों से द्वेषभाव के समान) स्वादु पदार्थों से घृणा करे। क्योंकि स्वादु समझे हुए पदार्थों को त्यागने तथा रूखे, सूखे, नीरस, स्वादशून्य अन्नादि के ग्रहण करने में उसकी उपादेय बुद्धि नहीं है, जैसे कि साधक को हुआ करती है। वह साधक तथा प्राकृत जन के विवेक और मोहयुक्त राग-द्वेष से मुक्त है; हेयोपादेयबुद्धि से शून्य है। वह सामान्य आवश्यकता के अनुसार जैसा स्वादु या अस्वादु अन्न उसे मिल जाता है, खा लेता है। वह सब प्रकार के भय से मुक्त हो चुका है। ये विषय उसके परमार्थ का कुछ बना या बिगाड़ नहीं सकते। ऐसा मनुष्य ही इन्द्रियों तथा विषयों का सदुपयोग कर सकता है। गीता में श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं:—

"रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥" गीता २,६४

प्राकृतजन की इन्द्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति रागद्वेषपूर्वक होती है, परन्तु साधक अथवा सिद्ध स्थित-प्रज्ञ इन रागद्वेषों से रहित होकर श्रोत्रादि इन्द्रियों द्वारा आवश्यकतानुसार, शास्त्रमर्यादापूर्वक रूपादि विषयों का ग्रहण करता हुआ, पूर्णतया वशीभूत इन्द्रियों द्वारा राग (तृष्णा) तथा द्वेष से मुक्त होकर आत्म-प्रसाद (प्रसन्नता-स्वस्थता) को प्राप्त करता है।

"प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥" गीता २,६५

प्रसादमयी इस स्थिति से आध्यात्मिक आदि सब दुःखों का नाश हो जाता है। और प्रसन्न चित्त वाले की बुद्धि स्वतः, सम्यक् प्रकार से निज स्वरूप में स्थिर हो जाती है।" ऐसे सिद्ध, परमरस से तृप्त पुरुष की अखण्ड तूष्णींस्थिति को प्राकृत जन कैसे समझ सकते हैं। संसार का संपूर्ण ऐश्वर्य प्राप्त होने पर भी उसके मन में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं होता। उस पर किसी विधि-निषेध का अंकुश नहीं है। उसके लिए स्वरूप से मनोहर पदार्थों का त्याग आवश्यक नहीं। फिर भी वह लोकहितार्थ, साधकोपयोगी त्याग तथा तप का ही जीवन व्यतीत करता है अन्यथा अबोध साधक उसका अनुकरण कर के परमपुरुषार्थ से भ्रष्ट हो जाएंगे।

"यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥" गीता ३, २१

श्रेष्ठ पुरुष जिन-जिन कर्मों का आचरण करते हैं, उनके अनुयायी भी उन-उन कर्मों को करते हैं। और वह प्रधानमनुष्य जिस लौकिक अथवा वैदिक कार्य को प्रमाण मानता है साधारण मनुष्य भी उसी को अपना प्रमाणभूत मानते हैं। अतः—

"सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥" गीता ३, २५

हे अर्जुन ! कर्मफल में आसक्त, अतिदीन पुरुष अनित्यफल स्वर्गादि की सिद्धि के लिये जिस प्रकार विहित कर्म करते हैं, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष कर्मफल (लोक स्तुति निन्दा आदि) से अनासक्त होते हुए भी लोकसंग्रह के उद्देश्य से विहित कर्तव्य (आचार-व्यवहार) में प्रवृत्त हो।

"न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्॥" गीता ३, २६

कर्म-फल में आसक्त जो ज्ञानी, नित्यानित्य-अविवेकी हैं और इस गूढ़ रहस्य को नहीं समझ सकते; विवेकी को चाहिए कि वह उन मन्दमति पुरुषों की कर्म-फल में उत्कृष्टता मानने वाली बुद्धि में भेद उत्पन्न न करे; उन्हें इस कर्म-पथ से, कर्म की निन्दा करके, विचलित न करे। क्योंकि वेद-निन्दक चार्वाक भी तो कर्म-फल तथा परलोकादि में श्रद्धा नहीं रखते और इस लिए कर्म के होने वाले निश्चित परलोक आदि फलों की तो वे भी निन्दा करते ही हैं। और ज्ञानी पुरुष जो नित्यानित्य का मर्म जानते हैं; वे यह तो मानते हैं कि पुण्य-पाप आदि कर्मों का स्वर्ग-नरक आदि फल अवश्य होता है। फल की तथ्यता को स्वीकार करते हुए भी वे जानते हैं कि कर्मफल नाशवान् है अतः इन कर्मों से परमश्रेय (मोक्ष तथा परमानन्द की) विष्णुपद की उपलब्धि नहीं होती। अतः वे मोक्ष-धर्म श्रवण-मननादि में प्रवृत्ति कराने के लिए प्रवृत्ति-मार्ग के कर्म तथा इनसे होने वाले फलों की निन्दा करते हैं। चार्वाकों (माद्दापरस्तों) प्रकृति के पुजारियों तथा तत्त्ववेत्ताओं की कर्मनिन्दा में समानता ही है; परन्तु दोनों के दृष्टिकोण में दिन-रात का अन्तर है। चार्वाक की कर्म-निन्दा शास्त्रदृष्टि से च्युत कर के मनुष्य को स्वाभाविक पाशविक-प्रवृत्ति में प्रेरित करती है और इस प्रकार तिर्यक् नरक आदि महान् दुःखप्रद योनियों का कारण बनती है। यह अवनति की ओर लेजाने वाली है; क्योंकि मध्यमगति की अपेक्षा अत्यन्त निकृष्ट, हेयमार्ग तथा गति की प्रशंसा करती है। वे लोग इस प्रकार की चर्चा करते हैं और उनकी कर्मनिन्दा का स्वरूप इस प्रकार का है जैसे- "एह जग मिट्ठा, अगला जग के डिट्ठा" जो कुछ है यही जग है आगे का लोक किस ने देखा है। जिन लोगों की बुद्धि वित्त, भोग तथा विषयलालसा से उपहत है, वे लोग चर्मचक्षु से दीखने वाले इस वर्तमान लोक को ही परमसत्य मानते हैं। मृत्यु के अनन्तर शास्त्रवर्णित परलोक आदि के सम्बन्ध में उनकी ऐसी धारणा होती है कि यह सब कुछ भोले-भाले मनुष्यों के श्रमोपार्जित धन को उड़ाने और धोखा देने के लिए धूर्त लोगों की कूटनीति है। इसलिये यह विधिनिषेधरूपी वेद-प्रतिपादित कर्म, कर्मफल आदि सम्बन्धी नास्तिकों की निन्दा अति नीचगति का कारण है। परन्तु तत्त्ववेत्ताओं की कर्म आदि की निन्दा उत्कृष्ट दृष्टि से है

उनका लक्ष्य परलोक का नितान्त तिरस्कार करके ऐहिक भोगो की प्रशंसा करना नहीं है। प्रत्युत उनका यह निर्णीत सिद्धान्त है कि परलोक के भोग इस लोक के भोगों की अपेक्षा अधिक रमणीक, उत्कृष्ट तथा चिरस्थायी होते हैं। परन्तु इस पर भी वे इस लोक के समान ही नाशवान् तथा अन्त में दुःख के कारण होते हैं। इसलिए उनकी इह-लौकिक तथा पारलौकिक भोगो की निन्दा परमोत्कृष्ट, सर्वोत्तम, एकरस-स्थिति की प्राप्ति के उद्देश्य से है। क्योंकि श्रेय (निरपेक्ष भूमानन्द) तथा प्रेय (विषयाधीन क्षणिक स्थूल बाह्य सुख) दोनों का एक बुद्धि या एक पुरुष उपभोग नहीं कर सकता। अतः उनकी कर्म तथा परलोक की निन्दा इस परमोत्कृष्ट पद के लिए, उन्नति के लिए है। परन्तु जो पुरुष चिर-काल से आसुरी भावों में वर्तता हुआ, कालचक्र के प्रभाव से थोड़े समय से ही शास्त्र-विहित मार्ग में प्रवृत्त हुआ है, वह परलोक के भोगो के अनित्यत्व आदि दोषों को समझने में असमर्थ होता है। वह उपर्युक्त तात्त्विकदृष्टि की कर्म-निन्दा, तथा भोगप्रधान नास्तिकों की कर्म-निन्दा, तथा सूक्ष्म भेद को न समझता हुआ अत्यन्त निकृष्ट मार्ग मे प्रवृत्त हो सकता है। इसलिए परमार्थ दृष्टि वाले को व्यवहार तथा वार्तालाप में बहुत साव-धान रहना चाहिए कि कहीं जन साधारण जो अभी उत्कृष्ट ज्ञानमार्ग पर चलने में असमर्थ हैं; उसके वचनों या व्यवहारों से उसके तात्पर्य को अन्यथा विपरीत समझ कर शास्त्र-पथ, मध्यमगति से च्युत न हो जायें। अतः फल पर दृष्टि न रखते हुए वह स्वयं शास्त्रानुसार आचरण करता हुआ सामान्य जनो को भी अधिकारोचित शास्त्र के कर्म-मार्ग में प्रवृत्त करे। गीता के इस उपदेश को दृष्टि मे रखते हुए ज्ञानी के लिए तप तथा त्याग आदि का मार्ग ही उचित है। भोगादि का मार्ग कदापि उपादेय नहीं है। अतिसूक्ष्म आत्मतत्त्व के बोध के लिए शम तथा दम द्वारा मन को निर्मल तथा बुद्धि को सूक्ष्म करना अनिवार्य है। जो मन इन्द्रियों द्वारा बाह्य विषयो के ग्रहण में संलग्न है; बाह्य विषय जिसकी वृत्ति को बलात् अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं या जिसका मन अनुभूत विषयो में आसक्ति के कारण विषय उपस्थित न होने पर भी अत्यन्त एकान्त देश में उनका चिन्तन नहीं छोड़ता अर्थात् जो मनुष्य शम-दम सम्पत्ति से युक्त नहीं है, वह अतिसूक्ष्म परमतत्त्व विषयक चिन्तन नहीं कर सकता। तत्-सम्बन्धी चर्चा उसे कभी भाग्यवश प्राप्त हो जाए तो झट निद्रा उसको अभिभूत कर लेती है। अतः शम-दम की आवश्यकता साधक के लिए अनिवार्य है।

तीसरा अध्याय समाप्त

चौथा अध्याय

उपरति

१. उपरति का प्रयोजन

उपरति षट्-सम्पत्ति का तीसरा अंग है। शम-दम का विधान बाह्य ज्ञानेन्द्रियों के निरोध के लिए है। क्योंकि अन्तर्तम, अतिसूक्ष्म, मन इन्द्रियों के अगोचर तत्त्व में इनका कुछ उपयोग नहीं (केनोपनिषद् १,३,४)†। प्रत्युत इन्द्रियों की विषयलोलुपता उस विष्णुपद की प्राप्ति में बहुत बड़ा प्रतिबन्ध है; (कठ ३, ५-७)‡ शम का विधान मन के संकल्प-विकल्प रूपी व्यवहार के विरोध के लिए है। उपरति का विधान मनुष्य की कर्मेन्द्रियों के बाह्य व्यवहार के निरोध के लिए है।

२. उपरति का तात्पर्य

अन्तःकरण की पूर्ण शुद्धि [अर्थात् विषय आदि भोग वासनारूपी मल के धुल जाने पर] हो जाने पर नैमित्तिक कर्मों के सहित नित्यकर्मों के भी विधि-अनुसार त्याग का नाम उपरति है। अन्तरंग साधन श्रवण-मनन आदि [तथा शम-दम आदि या सत्य-अहिंसा आदि सामान्य धर्म जो जिज्ञासु के लिए स्वाभाविक हैं] और उन श्रवण-मनन आदि साधनों के लिए शरीरयात्रार्थ भिक्षाटन आदि कार्यों के अतिरिक्त अन्य संपूर्णकर्मों का शास्त्र-नियमानुसार त्यागरूपी संन्यास का ही यह विधान है। अर्थात् अकर्मा संन्यासी का मुख्यरूप से इस उपनिषद्-विद्या में अधिकार है। तप तथा ईश्वर के प्रसाद से—श्वेताश्वतर ऋषि ने उस अनादि, अनन्त, महद्ब्रह्म का साक्षात्कार किया और ऋषि-समुदाय से सेवित इस परमपवित्र ब्रह्मतत्त्व का सम्यक् प्रकार से विरक्त तथा पूज्यतम परमहंस संन्यासियों को उपदेश किया। (श्वेताश्वतरोपनिषद् ६, २१) §। जिस दिन भोगों से दृढ़ वैराग्य हो जावे, उसी दिन (ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम अथवा वानप्रस्थाश्रम से) संन्यास ग्रहण करले। अर्थात् सन्यास ग्रहण करने में मुख्यहेतु वैराग्य ही है अन्य आश्रम वानप्रस्थादि नहीं। जब संपूर्ण वस्तुओं से मन में वैराग्य हो जावे तब ही विद्वान् संन्यास ले, अन्यथा पतित हो जाता है ⁎। और वैराग्य हो जाने के दिन से संन्यास

---

† न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो। न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात् ॥
अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि। इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद् व्याचचक्षिरे ॥ केन १,३

‡ यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा। तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥
यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा। तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥ ३,६
यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः। न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति ॥ ३,७

§ तपःप्रभावाद्देवप्रसादाच्च ब्रह्म ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान्। अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं प्रोवाच सम्यगृषिसङ्घजुष्टम् ॥ श्वेताश्वतरोपनिषद् ६, २१

⁎ यदा मनसि सञ्जातं वैतृष्ण्यं सर्ववस्तुषु। तदा संन्यासमिच्छन्ति पतितः स्याद्विपर्ययात्।

मे ही अधिकार है, गृहस्थ मे नहीं, क्योंकि § गृहस्थ तो जाया, पुत्र, वित्त, कर्म तथा कर्म-साध्य मनुष्य, पितृ तथा देवलोक पाङ्क्तलक्षण काम्य ही है, भोग-कामना की गति यहीं तक है। यहा यह आक्षेप हो सकता है कि क्या गृहस्थ भोगकामनामय ही है। विचार से देखें तो यह आक्षेप यथार्थ ही है। क्योकि यदि जायापुत्रादि भोगों की लालसा न हो तो ब्रह्मचर्य से गृहस्थ मे अन्य किस लक्ष्य से प्रवेश करेगा। भोग के अतिरिक्त गृहस्थाश्रम मे अन्य ब्रह्मचर्य आदि आश्रमो की अपेक्षा और क्या विलक्षणता है ? अतः इस गृहस्थाश्रम का भोग ही स्वरूप तथा लक्षण कहा जा सकता है। चाहे वह प्राकृत जनो की तरह उच्छृङ्खल न हो कर शास्त्रोक्त आदेश के अनुसार ही हो। भोग-कामना के विना गृहस्थ मे प्रवेश नहीं हो सकता और कामना निवृत्त हो जाने पर त्याग भी स्वाभाविक होता है। इसी तथ्य का वर्णन बृहदारण्यक उपनिषद् ४, ४, २२ ~ में भी है। अतः केवल उपरतियुक्त संन्यासी का ही उपनिषद्रूपी ब्रह्मविद्या मे अधिकार है, कर्मी (कर्मनिष्ठावान्) का नहीं।

३. कर्म देवता के पुजारियो के चार भेद

१ असुर, २ भौतिक विज्ञानवादी, ३ साधारण धर्म में श्रद्धा रखने वाले,
४ वर्णाश्रम सम्बन्धी शास्त्रोक्त धर्म में श्रद्धा रखने वाले।

आजकल तमोगुण तथा रजोगुण प्रधान युग मे कर्ममात्र का उपर्युक्त प्रकार का सद्य तिरस्कार सहज नहीं है। क्योकि कर्म रूपी देवता के ही अनेक प्रकार के पुजारी इधर उधर दीखते हैं और उन्हीं की प्रधानता है। इस लिए कर्मसम्बन्धी त्यागरूपी सत्य को समझना-समझाना सहज नहीं है। इस सत्य के विरोधियो की नीचे लिखे प्रकारो से भिन्न-भिन्न श्रेणिया बन सकती हैं.—

१ पहली श्रेणी उन लोगो की है जो धन भोग के मद से इतने उन्मत्त हैं कि बलात्कार तथा कुटिल नीति से अपने स्वार्थ को सिद्ध करना ही उन्होने अपना लक्ष्य बना लिया है। वे दूसरो के धन, जन तथा स्वत्व की कुछ परवाह नहीं करते, और धर्म (न्याय) का प्रयोग केवल अपनी रक्षा के लिए करते हैं, कि दूसरे उनके विषय भोगो की सामग्री को अन्याय से न लें। अथवा दूसरों की वञ्चना के लिए अपने न्याय का ढिण्ढोरा पीटते हैं।

२ दूसरी श्रेणी भौतिक विज्ञानवादियों की है। इस युग में भौतिक विज्ञानवाद ने अनेक आविष्कार किये हैं, जिनके द्वारा सामान्य मनुष्य की सामर्थ्य तथा सुख-सामग्री मे आश्चर्यजनक वृद्धि हुई है। जल, अग्नि, वायु, विद्युत् आदि भूतों के सदुपयोग मे भौतिक विज्ञानवाद का अभिमान निर्मूल नहीं है। ये

§ एकाका कामयते जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्त मे स्यादथ कर्म कुर्वीयेति।
स यावदप्येतेषामेकैक न प्राप्नोत्यकृत्स्न एव तावन्मन्यते॥ बृहदारण्यक उपनिषद् १, ४, १७

~ एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्त प्रव्रजन्ति। एतद्ध स्म वैतत्पूर्वे विद्वास प्रजा न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषा नोऽयमात्माऽय लोक इति ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति॥ बृहदारण्यकोपनिषद् ४, ४, २२

अपने तप तथा मस्तिष्कबल के द्वारा भूमि को स्वर्ग बना देने की आशा से परिश्रम में लगे हुए हैं। ये लोग अपने भौतिक पुरुषार्थ (कर्म) का निरादर कैसे सहन कर सकते हैं। ये लोग श्रेणी एक तथा तीन में विभक्त हो सकते हैं। परन्तु भौतिकविज्ञान की समकालीन अधिक सफलता के कारण बिना आधार के ही प्राचीन धर्मों की अवहेलना करते और उन धर्मों के आधार के बिना अपने आपको आशावादी (Optimist) कहते हैं। और भोग-त्याग या भोगविरोधी विचार को दुःख या निराशावाद (Pessimism) का नाम देकर ही संतुष्ट हो जाते हैं। उन्हें अपने भोगवाद पर, जिसे ये आशावाद कहते हैं, अभिमान है, ये लोग मनुष्यों के स्वभाव के दो भाग करते हैं:—(क) बहिर्मुखी (Extrovert), वे शूरवीर हैं जो संसार की विरोधी जड़-चेतन शक्तियों का विरोध करते हैं। कठिनाइयों से घबराते नहीं हैं, प्रत्युत उनको विजय करने की आशा और जीवन को स्वर्गमय बना देने की आशा रखते हैं। (ख) अन्तर्मुखी (Introvert), वे निर्बल स्वभाव वाले भीरु व्यक्ति जो संसार की विपत्तियों से भय-भीत हुए निराशावाद (Pessimism) की शरण लेते हैं और यह समझते हैं कि इन दुःखों से छूटने का कोई रास्ता नहीं है। बहिर्मुखी जनों की रोचक विभागमात्र से प्रशंसा करते हैं। इस चमत्कारी सफलता के कारण भौतिक विज्ञानवाद को पृथक् श्रेणी में रखा गया है।

(३) तीसरी श्रेणी उन लोगों की है जो सामान्य धर्म के महत्त्व को हृदय से अनुभव करते हैं और दूसरों को भूखे, प्यासे, नंगे, रोगी और दुःखी देखकर उन पर दया करते हैं। अपनी आवश्यक वस्तुओं का भी दूसरों के दुःख दूर करने में प्रसन्नतापूर्वक त्याग करते हैं। और अपने धन, बल, सामर्थ्य का यही सदुपयोग समझते हैं।

(४) यह श्रेणी उन लोगों की है जिनकी तृतीय भाग के अन्तर्गत सर्वसामान्य धर्म (जिसके लिए विशेष किसी आगम-वेदादि के निर्देश की अपेक्षा नहीं होती) के अतिरिक्त शास्त्रविहित वर्णाश्रम आदि धर्मों तथा भविष्य में होने वाले उनके फलादि में श्रद्धा है और उनके महत्त्व में विशेष आग्रह है। ये केवल शास्त्रोक्त कर्म के बल पर अक्षय सुखोपलब्धि की आशा रखते हैं। अथवा समकालीन ज्ञान-कर्म-समुच्चय के पक्षपाती हैं।

विभाग संख्या (१) तो अत्यन्त पशुबुद्धि वाले आकारमात्र के मनुष्य हैं। वे इतने सूक्ष्म रहस्य को,—जोकि सत्त्वगुणी देवताओं के लिए भी दुर्विज्ञेय है, कैसे समझ सकते हैं। संसार में कौन सा ऐसा सामान्य भौतिक इन्द्रियगोचर तत्त्व है जो प्रत्येक व्यक्ति को समझाया जा सकता है। हर स्थल में योग्यता की अपेक्षा है। ये लोग अपने व्यावहारिक जीवन में "जिसकी लाठी उसकी भैंस" के सिद्धान्त को मानते हैं; परन्तु खुलकर इसका समर्थन नहीं कर सकते। अपने मनोगत भावों को व्यक्त करने का भी जिन्हें साहस नहीं, जिनकी अपनी अन्तरात्मा ही अपने विचार का तिरस्कार कर रही है उनके विशेष खण्डन की आवश्यकता नहीं।

४. भौतिक विज्ञानवादका विवेचन तथा अर्वाचीन बहिर्मुखी विचारधारा का दुष्परिणाम

भौतिक-विज्ञान के आविष्कार यद्यपि चमत्कारी हैं तथापि इसी के बल-बूते पर

निर्वाह नहीं हो सकता। बहिर्मुखी (Extrovert) जड़-चेतन शक्तियों के विजयाभिमान ने सारे संसार को इस समय नरक बना दिया है। अग्नि, जल, विद्युत् आदि के आविष्कारों से भूमि को स्वर्ग तो क्या बनाना था ? भौतिक सामग्री परिमित है, उसकी लोलुपता में युद्ध अनिवार्य है। इसीलिए अनेक वायुयान, जलयान, ऐटमबम, टैंक, रेडियो, रडार आदि अनेक आविष्कार एक दूसरे के सर्वनाश की सामग्री बन गए हैं। लाखों व्यक्ति इनके कारण अपने उपयोगी अंग खो बैठे हैं; सदा के लिए परतंत्र, दीन, हीन बन गये हैं। जिनके प्राण बच गये हैं, वे भी पिता पुत्र से, पत्नी पति से, पृथक् हुए अनाथ अवस्था में कहीं के कहीं पड़े हुए हैं; रहने को घर नहीं, शीत से बचने के लिए वस्त्र नहीं, क्षुधानिवृत्ति के लिए अन्न नहीं और सामान्य आवश्यकताओं के लिए भी व्याकुल हो रहे हैं। यह सर्वव्यापी जनसंहार ही धन, विषयलोलुपता तथा बहिर्मुखी (Extrovert) ईर्ष्यालु, युद्धप्रिय, शूरवीरता का स्वर्गमय परिणाम है। इसके खण्डन के लिए अधिक श्रम की अपेक्षा नहीं है। यह समकालीन संसार की दुर्दशा ही इस पाशविक-भाव, भौतिक-वाद के दुष्परिणामों का व्याख्यात रूप है।

५. झूठी अन्तर्मुखता

इसमें सन्देह नहीं कि संसार में बगुला-भक्त भी बहुत होते हैं; वे दूसरों को ठगने के लिए भक्ति तथा न्याय का ढोंग रचते हैं। इसी प्रकार निर्बल मनुष्य भी प्रायः किसी शत्रु के हानि पहुंचाने पर जब अपनी निर्बलता के कारण किसी प्रतीकार के करने में असमर्थ होता है तो अपनी निर्बलता तथा भीरुता को छिपाने के लिए क्षमारूपी सात्त्विकी देवी के नाम की शरण लेता है। और जब संसार के भोग उसे प्राप्त नहीं होते तो भोगों के दोषों का व्याख्यान करता है। परन्तु इतने मात्र से संसार के भोग-प्रवाहों में बहने को शूरवीरता का पद देना और भोगों के त्याग पर निर्बलता का आरोप करना उचित नहीं। सांसारिक ऐश्वर्य, उन्नति, विद्या, राज्य, मान आदि के लिए भी संयमित जीवन अनिवार्य होता है। इन्द्रियों का दास तो सांसारिक भोग भी प्राप्त नहीं कर सकता और पग-पग पर ठोकर खाता है।

६. सच्चे अन्तर्मुखी की अद्वितीय शूरवीरता

द्वेष का विरोधी द्वेष नहीं, प्रेम है।

परन्तु क्या कोई विचारवान् इस सचाई से इन्कार कर सकता है कि बाह्य शत्रुओं को विजय कर भोगों को प्राप्त करने तथा भोगने की अपेक्षा किसी इन्द्रियरूपी शत्रु का विजय करना अधिक कठिन है।

> 'बड़े मूजीको मारा नफ्से अम्मारा को गर मारा।
> निहंगो अजदहाओ शेरेनर मारा तो क्या मारा ॥'

इन्द्रियों का विजय करना किसी निर्बल, भीरु का काम नहीं; इसके लिए महान धैर्य की आवश्यकता है। वह अन्तर्मुखी (Introvert) इसलिए नहीं कि बाह्य शत्रुओं को विजय नहीं कर सकता। वह अपने शत्रुओं का मदमर्दन करने में भली प्रकार समर्थ है।

परन्तु उसकी अन्तरात्मा जागृत हो चुकी है। वह बहिर्मुखी की तरह बाहर ही बाहर नहीं देखता। वह जानता है कि बाहर के शत्रुओं की अपेक्षा भीतर के काम, क्रोधादि शत्रु महान् अनर्थ के हेतु हैं और बाह्य उपद्रवों के भी मूल यही हैं। क्योंकि केवल बाह्य स्थूल-शक्ति के भरोसे पर शत्रुओं को कौन मार सकता है। वही अनन्त अदम्य शक्ति हर मनुष्य के भीतर है। उसको अनन्त काल के लिए कौन दबा सकता है। वह बहिर्मुखी बुद्धि अन्यत्र भी विद्यमान है, जो समय पाकर शक्ति का संचय करके शत्रु के उन्मूलन करने में तत्पर हो जाती है। अतः अत्यन्त भयप्रद, मृत्युप्रद, सर्वसंहर युद्ध का अन्त नहीं होता। इस बहिर्मुखता ने अभी भीतरी मूलशत्रु का अनुभव नहीं किया, जो बाहर अनन्त शत्रु उत्पन्न कर देता है। बुद्धि तथा शूरवीरता के अभिमानी ने अभी यह नहीं समझा कि शत्रुता का विरोधी प्रेम है। शत्रुता, शत्रुता की विरोधी नहीं है। शत्रुता से तो शत्रुता बढ़ती है, घटती नहीं। प्रेम का राज्य तो मन पर होता है। It is better to rule by love than fear. यदि राज्य ही करना है तो भय की अपेक्षा प्रेम का राज्य सहज, स्थिर (नित्य) तथा सुखद है। इस भीतरी शत्रु को अनुभव करना सूक्ष्म, सात्विक बुद्धि का काम है और इसका विरोध निर्बल व्यक्ति नहीं कर सकता। सच्चा अन्तर्मुखी (Introvert) तो महान् बलशाली होता है।

यदि कोई हानि पहुंचाए तो क्रोधवश तत्काल उसे दण्ड दे देना सुगम है; यह कोई शक्ति का प्रमाण नहीं है। प्रत्युत इस क्रोधरूपी नित्य भीतर रहने वाले शत्रु को विजय करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। ऐसे अवसरों का अनुभव सभी मनुष्यों को होता है। और इस सत्य को एक भी ऐसा अवसर सम्यक् प्रकार से प्रकट कर सकता है।

७. अन्तर्मुखी महापुरुष सुकरात, यसुमसीह आदि

क्या सुकरात, यसुमसीह, बुद्धादि निर्बल अन्तर्मुखी (Introvert) थे। जिन्होंने "अपने भीतरी शत्रुओं के संहार के उपदेश में" जीवन व्यतीत कर दिया। और संसार की चित्त तथा मोहरूपी निद्रा को भंग करने के लिए अपने परमप्रिय प्राणों तक का बलिदान कर दिया; परन्तु अन्याय, अत्याचार के विरोध में किसी प्रलोभन तथा भय के कारण एक पग भी पीछे नहीं हटे। उन्होंने केवल उपदेश से नहीं अपितु अपने आचरण और व्यवहार में यह सत्य पूर्णतया चरितार्थ किया कि अपने प्राणों के घातकों के साथ भी परमप्रेम का व्यवहार करना चाहिए। हजरत यसुमसीह के नीचे लिखे सुनहरी वचन स्मरणीय हैं:—

१. वे लोग भाग्यशाली हैं और प्रभु की उन पर कृपा है जो नम्र भावना वाले हैं क्योंकि वे ही स्वर्ग के अधिकारी हैं।

२. यदि तुम्हारी दायीं आंख पाप करती है तो उसे निकाल कर बाहर फेंक दो; क्योंकि यह तुम्हारे लिए हितकर है कि तुम्हारे शरीर का एक अंग नष्ट हो जाये, न कि उसके कारण तुम्हें तुम्हारे संपूर्ण शरीर सहित नरक का दुःख भोगना पड़े।

३. तुमने सुना है, ऐसा कहा गया कि आंख के बदले में आंख और दांत के बदले में दांत निकाल लेना उचित है; परन्तु मैं तुम्हें आदेश करता हूं कि बुराई का बदला

बुराई से मत दो; प्रत्युत यदि कोई तुम्हारे दाईं गाल पर चपत मारे तो तुम उसके सामने दूसरी कर दो।

४. कोई आदमी दो स्वामियों की सेवा नहीं कर सकता; यह निश्चित है कि वह एक से प्यार करेगा और दूसरे से घृणा करेगा या एक को अपनाएगा और दूसरे से पृथक् हो जाएगा। तुम ईश्वर और कुबेर (धन का अधिपति देवता) दोनों की आज्ञाओं का पालन नहीं कर सकते। (ईसा के गिरिप्रवचन से उद्धृत)

भगवान् बुद्ध के नीचे लिखे वचन भी मननीय हैं:—

१. जितनी हानि किसी मनुष्य को उससे वैर करने वाला पहुंचा सकता है, या जितना दुःख उसे उसका शत्रु दे सकता है, उससे अधिक क्लेश उसे उसका मन टेढ़े मार्ग पर चल कर देता है।

२. जितना लाभ मनुष्य को उसका अपना मन सीधे मार्ग पर चल कर पहुंचा सकता है, उतना उसके माता पिता बन्धु नहीं पहुंचा सकते।

३. इस संसार में द्वेष द्वेष से शान्त नहीं हो सकता। इसे शान्त करने का उपाय अद्वेष या वैरत्याग है। यह प्राचीन नियम (सनातन धर्म) है।

४. जिस पुरुष ने अपने आप पर शासन कर लिया, वह सहस्रों वैरियों को सहस्रों बार जीतने वालों से भी बड़ा विजेता है।

५. दूसरों पर शासन करने की अपेक्षा अपने आप पर शासन करना उत्तम है। यदि एक पुरुष अपने आप पर विजय प्राप्त कर लेता है और संयम से रहता है, तो कोई शक्ति भी उसकी विजय को निष्फल नहीं कर सकती। (धम्म पद)

अन्तर्मुखी (Introvert) की दृष्टि में बहिर्मुखी (Extrovert) के समान मूढ दीनता, इन्द्रिय तथा स्वार्थविवशता, भयंकर परतन्त्रता का नाम शूरवीरता नहीं है। वह दूसरों के धन, जन का अपहरण करने में अपनी विजय नहीं समझता; दूसरों को बलात् दास बनाने में ही अपने पाशविक बल का उपयोग नहीं करता। वह स्वतन्त्रता तथा सच्चे मानवीय बल का रहस्य दासता की जंजीरों को काटने में ही समझता है। और अपने प्रेम से दूसरो के मनरूपी सिंहासनों पर राज्य करता है। यही नहीं, वह बाह्य दासता के मूल कारण भीतरी दासता अर्थात धन, भोग का मोह तथा इन्द्रियरूपी महाबलवान्, दुर्वर्ष शत्रुओं को विजय करने मे ही अपनी चतुरता तथा बल का सदुपयोग समझता है। उसे निर्बल कौन कह सकता है, वह तो महा शूरवीर है।

८. अर्वाचीन कर्म-महत्त्व की भ्रान्ति का मूल भोग-प्रधान जीवन है

कर्मदेवता के पुजारियो के जितने भी विभाग ऊपर किये गये हैं जो इस सिद्धान्त की अवहेलना करते हैं कि संन्यास (विधिवत कर्मत्याग) द्वारा ही ब्रह्म-विद्या सफल हो सकती है; उन सब में मौलिक भ्रान्ति संसार के अपार रमणीक पदार्थों के संबंध में है। शरीर का निर्वाह या शीतोष्णता और क्षुधापिपासा आदि की निवृत्ति तो इन पदार्थों से ही होगी; परन्तु इनको सद्रूप (Positive) सुख का साधन-तथा परम अथवा एकमात्र उपाय

मानना, रजोगुण के कारण चपल हुई इन्द्रियों से भ्रमित कलुषितबुद्धि का काम है, जो इनके वास्तविक सच्चे स्वरूप का निर्णय नहीं कर पाती। प्रत्युत गीता में वर्णित (१८,३२) तामसिक बुद्धि असंदिग्ध रूप से सत्य को असत्य तथा असत्य को सत्य ही मानती है। इसी मिथ्याज्ञान में उसका आग्रह है। काम, क्रोधादि महाक्लेशस्वरूप भावों को ही वह सुखरूप समझती है। वे कामगामी भोगों की कामना करते रहने को ही अपना ध्येय तथा जीवन आधार मानते हैं। जो राजनीति (Politics) में कामनाओं के बढाने को ही परमश्रेय समझते हैं, वे आरम्भ में विषयों के अमृत के समान बाह्य मनोहर रूप से प्रभावित होकर उनके परिणाम में होने वाले दु:खरूपी विषैले फल को नहीं समझते (गीता१८,३८)†। शास्त्र तथा महापुरुषों के अनेक बार सहस्रश: उपदेश करने पर भी अपने दुराग्रह को न छोड कर अपने मिथ्याज्ञान के साथ चिपटे रहते हैं। उलटे ऐसे महामना तत्त्वदर्शियों को दु:खवादी (Pessimist) तथा अपने आप को सुखवादी (Optimist) कहने में कुछ सङ्कोच नहीं मानते। विषयमोहरूपी अविद्या में पडे हुए अपने आप को सुविज्ञ चतुर पण्डित मानते हैं (कठ० २, ५)‡। परन्तु उनकी चतुराई का चित्र चक्रवर्ती भर्तृहरि ने इस प्रकार खींचा है, "कि मेढक सर्प के मुख में है परन्तु भोगाध फिर भी मच्छरों के पीछे लपकने की चेष्टा कर रहा है।" ये विचार किसी भूखे, कंगले, दरिद्री के मुख से नहीं निकले, ये उस निर्मलहृदय व्यक्ति के उद्गार हैं, जिसने चक्रवर्ती राज्य के सुखों को दीर्घकाल तक भोग कर उन्हें नि:सार समझा और तिनके तथा मल विष्ठा के समान त्याग दिया। चक्रवर्ती राज्य ही नहीं जिन्होंने महान् पुण्यों के परिणाम में प्राप्त होने वाले देवेन्द्र आदि के सुखों में वही दोष देखे (मुण्डक १,२,१२)§। आपातरमणीय भोगों में क्षणिक सुख मान लेने के पश्चात् भी, इन नाशवान् पदार्थों के योगक्षेमरूपी दोष से दिनरात चिन्तातुर रहते हुए भी यदि मेढक के समान प्रमादवश उस चिन्ता को नहीं देख सकते, तो वह चिन्तारूपी मृत्यु हमें छोड तो नहीं देती (कठ० २,६)§। महान् से महान् पद प्राप्त करके भी क्या चिन्तारूपी पिशाचिनी से किसी का छुटकारा हुआ है? एक राजा ने अपने दीर्घकालीन राज्य की डायरी की परीक्षा करके लिखा था कि "उसके संपूर्ण जीवन में केवल दस दिन ऐसे थे जो कुछ चैन या सुख से बीते थे।" क्षणिक सुख के प्रलोभन में इसके परिणाम में होने वाले दुःखों को भूले रहना ही कोई सुखवाद (Optimism) नहीं है। और इसके तत्त्व को जान कर मरणपर्यन्त अन्त न होने वाले दु:ख से छुटकारा पाने का प्रयत्न करना कोई दु:खवाद (Pessimism) नहीं है। भर्तृहरि ने ठीक ही कहा है कि दारुण भूख के

---

† विषयेन्द्रियसंयोगाद् यत्तदग्रे ऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥ गीता १८,३८

‡ अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अंधेनैव नीयमाना यथान्धाः॥ कठ० २,५

§ परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन॥ मुण्डक १,२,१२

§ न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥ कठ० २,६

७ स्वतंत्र विचार-प्रधान तथा वेदोक्त वितृष्णा, वैराग्य, कामत्याग में भेद।

संसार चक्र का मूल कारण आत्मा का अज्ञान है।

स्वतन्त्र विचार प्रधान मनुष्यों के वितृष्णा, वैराग्य, काम-त्याग, अनासक्ति का स्वरूप, तथा दु समय संसार के उच्छेद करने के साधनों, और वेदोक्त वितृष्णा, वैराग्य, कामत्याग, अनासक्ति का स्वरूप, तथा संसार चक्र के उच्छेद करने के साधनों मे इनके स्थान तथा महत्त्व में भेद है। वैदिक संस्कार से शून्य मनुष्य इस परिणाम शील, स्थूल अथवा सूक्ष्म देह के अतिरिक्त अन्य किसी नित्य तत्त्व को नहीं मानते, अथवा मानते भी है, तो उसके ज्ञान को परमलक्ष्य या साधनरूप मे नहीं मानते, या स्वरूप स्थिति को परमलक्ष्य मानते हुए भी कामना निवृत्ति मात्र से ही उसकी प्राप्ति मानते हैं और किसी उपाय की आवश्यकता उस के लिए स्वीकार नहीं करते। इन सब उपर्युक्त भिन्न २ विचारों वाले ये लोग इस एक विषय मे सहमत है कि नित्य तथा अनित्य आदि दोषों के विचार से तृ णा का मूल सहित नितान्त नाश हो सकता है। और क्योकि यह तृष्णा ही संसार चक्र का एकमात्र कारण है, अत इसके नाश से संसार भय की सर्वथा निवृत्ति तथा परमपद की प्राप्ति हो जाती है, अथवा तृष्णा निवृत्ति और परमपद की प्राप्ति मे कुछ अन्तर नहीं है। परन्तु श्रुति वैराग्य (अनासक्ति आदि) की आवश्यकता मानते हुए भी इसको ही स्वतन्त्र रूप से संसार भय की निवृत्ति मे साधन नहीं मानती। और प्रेय प्रलोभन, प्रेयमार्ग मे योग क्षेम रूपी दोष, नाश भय तथा भोग द्वारा तृष्णारूपी ज्वाला की वृद्धि को स्वीकार करती है। तथा संसार-चक्र और भय के कारणों मे तृष्णा को उचित स्थान देती है। परन्तु वह इसे संसार भय का परम कारण नहीं मानती। राग तथा तृष्णा का कारण विषय में सुख प्रतीति है, परन्तु यह सुख की प्रतीति भी प्राणिमात्र तथा मनुष्यमात्र मे प्रत्येक पदार्थ के विषय मे समान नहीं होती। एक जाति, एक आयु, एक माता पिता तथा अन्य बाह्य परिस्थितियो के समान होने पर भी इस सम्बन्ध मे व्यक्तियो मे भेद पाया जाता है। इसका कारण केवल योगाभ्यास की भिन्नता नहीं हो सकती।

भिन्न २ मनुष्यों के प्रेय-पदार्थों का वर्गीकरण किया जा सकता है। जैसे—कुछ लोग ऐसे होते हैं, जिनको रूप रस आदि विषय भोगो मे रुचि (प्रेम—आसक्ति) होती है। इनके प्रिय पदार्थों, भिन्न २ इन्द्रियो के विषयो अथवा एक ही इन्द्रिय के भिन्न २ रूपो या रसो मे भेद हो सकता है परन्तु इन सब मे एक समानता है कि इनके प्रिय पदार्थ इन्द्रियो के विषय होते हैं। दूसरा वर्ग उन मनुष्यो का हो सकता है, जिन्हें भिन्न २ प्रकार के कर्मों खेल कूद, पर्यटन, तथा कला-कौशल के सञ्चालन, आदि मे अधिक रुचि होती है। इन मे उनकी दक्षता भी स्वाभाविक होती है। यहां भी कार्यों या प्रवृत्तियो के क्षेत्रों मे भिन्नता होने पर भी एक प्रकार की समानता होती है, जिस से वे सब एक वर्ग मे आ जाते हैं। तीसरे प्रकार के वे लोग हैं, जिन्हें संसार की पहेलियो को सुलझाने, नियमों को जानने आदि मे विशेष रुचि होती है, ये ज्ञान प्रिय खोजी एक स्वतन्त्र वर्ग मे रखे जा सकते हैं। इसी प्रकार चौथी श्रेणी के वे लोग होते हैं, जिनमे प्रभुत्व का भाव अथवा शासन करने की रुचि तीव्र होती है। इन के